महाभाष्य – व्याकरण-दर्शन

महाभाष्य-व्याकरण - दर्शन का स्रोत-ग्रन्थ

स्रोत-ग्रन्थ

(डॉ.) ए. सुधा देवी

88

VYAKARANA

महाभाष्य – व्याकरणदर्शन का स्त्रोतग्रन्थ

डॉ० ए० सुधा देवी

ajivGandhiC

विद्यानिलयम्
दिल्ली
2003

प्रकाशकः
विद्यानिलयम्
आर0पी0-19, मौर्य एन्कलेव,
पीतमपुरा, दिल्ली - 110034
फोन - 27412636, 33080605

© लेखिका

प्रथम संस्करण : 2003
मूल्य : 350/-

मुद्रक :
इमेज ग्राफिक्स इंडिया
35/6, पटेल चेस्ट,
दिल्ली - 110007
फोन- 9811109750, 32102338, 33050012

दो शब्द

व्याकरण शब्दों का शास्त्र है, व्याकरण का प्रमुख कार्य शब्दार्थ-ज्ञान कराना है। व्याकरण वेद का मुख्य अङ्ग है। व्याकरण के ज्ञान के बिना वैदिक साहित्य का विवेचनात्मक ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता। पदार्थ का गूढज्ञान दर्शन के द्वारा प्राप्त होता है। व्याकरण और दर्शन परस्पर सम्भूत विषय हैं। व्याकरण को दर्शन के रूप में मान्यता सर्वप्रथम माधवाचार्य ने दी।

त्रिमुनि-व्याकरण में पतञ्जलि ही सर्वप्रथम वैयाकरण हुए, जिन्होंने पाणिनीय सूत्रों का, उन पर लिखे गये वार्तिकों का गहन विवेचन तथा विश्लेषण प्रस्तुत किया। इससे पतञ्जलि के वैयाकरण होने के साथ-साथ उनके दार्शनिक विचारक होने का भी पुष्ट प्रमाण मिलता है – 'सर्ववेदपारिषदं हीदं शास्त्रम्। तत्र नैकः पन्थाः शक्यआस्थातुम्। (महा० 2.1.58)

भर्तृहरि ने अपने त्रिपादी तथा वाक्यपदीय के द्वारा शब्द तथा शब्दशक्ति के जिस स्वरूप का दार्शनिक दृष्टि से प्रस्तुतीकरण किया, उससे यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि निश्चय ही उनकी प्रेरणा का स्रोत महाभाष्य रहा।

व्याकरण-दर्शन-सम्बन्धी सूक्ष्म चिन्तन तथा विचारधारा के बीज वैदिक काल में ही प्रस्फुटित हो गए थे, जब ऋषियों ने सर्वप्रथम भाषा के सूक्ष्म स्वरूप के अतिरिक्त उसके अन्तर्निहित गूढार्थों को भी जानने की उत्सुकता दर्शाई –

'यो वाचा विवाचो मृध्रवाचः पुरू सहस्राशिवा जघान ।
तत्तदिदस्य पौंस्यं गृणीमसि पितेव यस्तविषीं वावृधे शवः ।।
(ऋ० 10.23.5)

प्रस्तुत शोध में अनेक विद्वानों के ग्रन्थ मेरे मार्गदर्शक रहे हैं, उनके प्रति मैं सदा ऋणी हूँ तथा उनका सादर नामवाचन मैंने ग्रन्थ में किया है। पुनश्च, व्याकरण के सामान्य रूप से तथा महाभाष्य के विशेषरूप से दार्शनिक पक्ष की उद्भावना के सन्दर्भ में जिन विद्वानों का मार्ग-दर्शन रहा है, उनका नामोल्लेख करना मैं अपना कर्त्तव्य समझती हूँ, उनमें प्रमुख हैं – स्व डॉ. रामसुरेश त्रिपाठी, पद्मश्री डॉ० कपिलदेव द्विवेदी, डॉ० रामाज्ञा पाण्डेय, डॉ० शिवनाथ तथा डॉ० हरिसिंह सेंगर।

प्रस्तुत ग्रन्थ अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में 'शब्द' विषय का विवेचन है। पतञ्जलि द्वारा दी गई शब्द-विषयक व्यापक परिभाषा का अनुशीलन प्रस्तुत अध्याय में किया गया है, शब्द का जाति-व्यक्ति-स्वरूप, नित्यत्व-अनित्यत्व भी इस अध्याय में रखा गया है। द्वितीय अध्याय में काल-तत्त्व का सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत किया गया है। पतञ्जलि के वर्तमान काल से सम्बन्धित विचारों का अध्ययन भी इसी अध्याय में है। तृतीय अध्याय गें लिङ्ग-तत्त्व का विवेचन किया गया है। पतञ्जलि ने जगत् के समस्त पदार्थों का विभाजन-प्रत्यायन लिङ्ग के आधार पर माना है। और लिङ्ग का विभाजन सजीव प्राणियों के प्रत्यय-भेद के आधार पर होता है।

महाभाष्य में विवेचित उपर्युक्त तत्त्वों का वैदिक पृष्ठभूमि में अध्ययन एवं परवर्ती वैयाकरणों द्वारा प्रस्तुत विस्तृत दार्शनिक पृष्ठभूमि भी प्रस्तुत ग्रन्थ का विषय रहे हैं।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के ग्रन्थरूप में आने की सफलता के लिये मैं अनेक सहयोगीजनों की ऋणी हूँ। मैं अपना आभार मेरे आदरणीय गुरुजी डॉ० सत्यकाम वर्मा के प्रति प्रकट करती हूँ, जिनके आशीर्वाद से मैं यह प्रयास कर पाई। दिल्ली विश्वविद्यालय में वर्तमान संस्कृत-विभागाध्यक्ष मेरे आदरणीय गुरु प्रो० सत्यपाल नारंग की मैं कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने अपने स्नेहाशीः से मुझे सदा लाभान्वित किया। मैं अपने मामाजी प्रो० अवनीन्द्र कुमार के प्रति आभारी हूँ, जिनका स्नेह तो मैंने सर्वदा पाया ही है, साथ ही जिनके सहज एवं सहर्ष परामर्श से मैंने स्वयं को लाभान्वित किया है। मेरे माता-पिता का आशीर्वाद तो सदा मेरे साथ ही है, उनके प्रति मैं

कृतज्ञ हूँ। बहिन समान सहेली डॉ० आएशा सुल्ताना के प्रति मैं आभारी हूँ, जिन्होंने समय-समय पर अपने अमूल्य सुझाव देकर मेरा उत्साह-वर्धन किया।

मैं दिल्ली विश्वविद्यालय के पुस्तकालय के अनेकानेक कर्मचारियों को धन्यवाद देती हूँ, जिन्होंने मेरे शोध-कार्य में अपना सहयोग प्रदान किया। मैं राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान के प्रति आभारी हूँ, जिसने अनुदान प्रदान करके ग्रन्थ के प्रकाशन का कार्य सरल कर दिया। मैं अपने प्रकाशक भाई सुश्री हिमांशु को धन्यवाद देना चाहूँगी, जिनके अथक परिश्रम से ही यह कार्य सम्पन्न हो पाया। अन्त में मैं मेरे पति, बहिन पद्मजा तथा दोनों पुत्रियों के प्रति आभारी हूँ जिनकी कार्य के प्रति उत्सुकता तो मुझे सदा प्रेरणा देती ही रही, परन्तु उनके पूर्ण सहयोग के बिना यह कार्य अधूरा ही रह जाता।

प्रस्तुत ग्रन्थ पाठकों की आवश्यकता को यदि लेशमात्र भी पूर्ण करता है तो मैं अपने आपको कृतकृत्य समझूँगी।

अपरित्तोषाद् विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।
बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः।।

निवेदिका–

कृष्णजन्माष्टमी 1998, दिल्ली। ए. सुधा देवी

FOREWORD

There is no doubt that from the Ṛgveda, the Vedic Ṛṣis knew the worldly and universal concepts of language, its inspiration, its divisions, origin, articulation, transcendental transformation of language to worldly speech, its purification for articulation and other ingredients known to Indian thought. The Rṣis developed it into a system where the investigation of the language was done with both the sides, the individual and universal. Catvāri vāk, which is vividly explained by the commentators, including the grammarians, shows that there had been a number of meanings which are not explicit in the Ṛgveda. Taittirīya Saṁhitā has definitely given the clues of the analysis of grammatical categories.

Grammarians including the Prātiśākhyas were more concerned with the identification and analysis of the grammatical units, including the Sandhi and accent, without falling in the controversy which late philosophers developed. Their main purpose was to understand a particular recension of the Veda through linguistic units of language. The etymologists, who also like the Prātiśākhyas, might have developed in various recensions developed a science of regional, phonetics and semantics based on geographical regions mentioned by the name Prācyāḥ, Prāñcaḥ, Udañcaḥ, Kamboja Surāṣṭra, Prācyamadhya and Sauvira etc. The regional phonetics may be in the name of the Ācārya viz. Śākalya, Bhāradvāja and Gārgya also, which not only denote the name of the Ācārya but a geographical region as well. They were more concerned with the meaning and tried to twist the words to get the desired object. They were least concerned as to what is denoted by a particular word, viz. an individual or universal. But the systems like that of Pāṇini could not explain and analyse the words without going to the controversy of homogenous forms (sarūpa), genus (jāti) which was essential. Prior to that Vyāḍi had explained it in a different way.

Philosophers and linguists, as per the need of their system, explained the language as eternal/transitory, Siddha/asiddha, ultimate/mundane, individual/universal, divisible/indivisible, capable/incapable of changing

the position of the words, real in relation to world/projection, true/untrue, pada/vākya, synthetic/analytic, having the first etymological meaning or allied meaning or deeper meaning pertaining to individual group; and the meaning in relation to other words. Their validity also differed on the basis of the authority or reliance of the system. The expression of reality through the words was also a problem for the philosophers. All the systems differed on the ingredient of the cognition of the meaning of the word to concord their system. Jāti, guṇa, dravya and kriyā were the main ingredients which may be one or many in a particular system. The grammarians particularly earlier were concerned to the extent of their analysis and formation of the word. The etymologists, who had already bifurcated over the issue, could drag any principle to attain their desired meaning through any means of analysis, in which a number of Ācāryas differed. However, later philosophers of grammar influenced with the doctrines of either Mīmāṁsakas or Naiyāyikās, argue in a style which is not known to earlier tradition and hence generating a confusion by blending the thoughts, either by putting clear prima facie or fabricated, not fitting the structure of grammar for analysis. Some scholars through the doctrine of Samartha try to interpret it in relation to śābdabodha, which, in their opinion is the primary problem and the analysis as the secondary. Prior to Patañjali, Ṛgveda, quoted by Patañjali himself had been categorizing the language in relation to the songs and linguistic units. The purification of the words was one of the objects. Earlier Buddhism and Jainism had been exploring the language through ethical code, purification of the thought and speech mitigation for the human suffering and noble relation of social and individual objects. It was absolutely different from the protection of the Veda, to become a good ritualist to attain the Ultimate Reality which is propounded by Patañjali.

Time was an essential ingredient for the grammarians for the analysis of present and past perfect which sometimes mixed up. Pāṇini does not discuss it in terms of philosophical concept. He explains it as a finished/unfinished units, where the case changes if the action begets its object. It appears, the time of action begins when the intention to do it arises. The clue can be obtained from the root dā and Prati+śru. It is definitely Patañjali and Bhartṛhari who accept the doctrine of psycho-time and

space for the expressions where the present and past perfect are in unity. Past events are expressed by present due to this doctrine only. It was vividly explained by various systems of philosophy and dramaturgy.

Gender identity in language and reality are different issues. A word may be masculine but its meaning may be feminine. Sanskrit differs here with many Indo-European languages and indo-Aryan languages where the napuṁsaka is lost and fallen into the category of either masculine or feminine. Grammarians including Pāṇini do not recognize the worldly gender but recognize only the grammatical gender. Feminine does not include only wife, but also daughter, as later grammarians discuss it and quote a number of classical texts e.g. Kāikeyī in the Raghuvaṁśa. A number of aspects are discussed by Patañjali in this regard. Grammarians and later lexicographers have accepted feminine generally dependent on the masculine. Lexicographers, to count the number of syllables, do not depend on the suffixes for feminine. To them Yavana has the importance and yavanī or Yavanānī are only subordinate to it for the purpose of calculation and hence their placement in tryakṣarī or Caturakṣarī Vācyaliṅga has a separate category. Here Patañjalī and later grammarians differ. A number of systems of Indian Philosophy have contributed to the doctrine that may be searched in Patañjali.

I am happy that Dr. A.Sudha Devi a pupil and now a colleague of mine has analyzed the material of Patañjali in various categories of Philosophy of Grammar. Her analysis and collection of material is based on sound principles of method of collection. She has made a comparative study of the thought of Patañjali with later philosophers of grammar, philosophers both orthodox and heterodox. I may agree or not agree with the placement of material and conclusions drawn but she has put hard labour to put the material at one place. The material may be interpreted differently to attain some different conclusions as well.

This work is a welcome in the field of scholarship of Philosophy of Grammar. I congratulate her for this production and wish her all the best to accomplish for the scholarship in future.

Prof. Ṣatya Pal Narang
Department of Sanskrit
University of Delhi
Delhi - 110 007.

04.08.1998

विषय-सूची

प्राक्कथन	(i-iii)
Foreword	(iv-vi)
विषय-सूची	(vii-vii)
भूमिका	(viii-xiv)
प्रथम अध्याय	
शब्द	१-९९
द्वितीय अध्याय	
काल	१००-१४०
तृतीय अध्याय	
लिङ्ग	१४१-१९६
उपसंहार	१९७-२००
संदर्भ ग्रन्थ-सूची	२०१-२१५

भूमिका

व्याकरण शब्दों का शास्त्र है, शब्दार्थ-ज्ञान अथवा दर्शनज्ञान व्याकरण का प्रमुख कार्य है। प्रत्येक शब्द अर्थ-प्रत्यायक होता है, ऐसा व्याकरणाचार्यों का सिद्धान्त रहा है। व्याकरणिक-दृष्टि से शब्द के वाच्यार्थ के अतिरिक्त उससे अन्य अर्थ भी अभिव्यञ्जित होता है। पदार्थ का गूढ़ ज्ञान दर्शन के द्वारा ही प्राप्त होता है। व्युत्पत्यात्मक दृष्टि से दर्शन की परिभाषा इस प्रकार है—

> दृश्यते यथार्थतया ज्ञायते बोध्यते पदार्थः, तत्त्वम्, अनधिगतविषयो, अपूर्वो वा अनेन तद् दर्शनम्।

व्याकरण और दर्शन परस्पर सम्भूत तथा संयुक्त विषय हैं, इन दोनों का परस्पर सम्बन्ध बहुत ही सूक्ष्म है, फिर भी प्राचीन आचार्यों— शङ्कराचार्यादि ने षड्दर्शनसमुच्चय की गणना में व्याकरण को दर्शन के रूप में मान्यता नहीं दी। पदवाक्यप्रमाण के ज्ञाता महादार्शनिक विद्वान् माधवाचार्य ने सर्वप्रथम स्वतन्त्र रूप में अपने सर्वदर्शनसङ्ग्रह में व्याकरण के दर्शन-तत्त्व पर विचार किया तथा उसके दर्शनत्व का उच्च स्वर में उद्घोष किया।

महावैयाकरण महाभाष्यकार पतञ्जलि ने जो स्थल-स्थल पर व्याकरण के दर्शनत्व की ओर संकेत किया है, उससे महाभाष्यकार के वैयाकरण होने के साथ-साथ दार्शनिक विचारक होने का भी पुष्ट प्रमाण मिलता है।[१]

> 'सर्ववेदपारिषदं हीदं शास्त्रम्। तत्र नैकः पन्थाः शक्यमास्थातुम्।
> 'प्रातिपदिकनिदेर्शश्चार्थतन्त्रा भवन्ति न काञ्चिद् प्राधान्येन विभक्तिमाश्रयन्ति।"
> "न सत्तां पदार्थो व्यभिचरति।"

---

१. महाभाष्य- २.१.५८, १.८.५६, ५.२.९४

वाक्यपदीयकार भर्तृहरि ने भी व्याकरण के शास्त्रत्व, आगमत्व को अङ्गीकार किया तथा उसके दर्शन-पक्ष के विषय में तो विस्तार से विवेचन किया।

न्यायप्रस्थानमार्गांस्तानभ्यस्य स्वं च दर्शनम्,
प्रणीतो गुरुणाऽस्माकमयमागमसङ्ग्रहः।[१]

यः पतञ्जलिशिष्येभ्यो भ्रष्टो व्याकरणागमः
काले स दाक्षिणात्येषु ग्रन्थमात्रे व्यवस्थितः।[२]

साधुत्वज्ञानविषया सैषा व्याकरणस्मृतिः,
अविच्छेदेन शिष्टानामिदं स्मृतिनिबन्धनम्।[३]

व्याकरण-दर्शन-सम्बन्धी सूक्ष्म चिन्तन तथा विचारधारा वैदिक काल में ही प्रस्फुटित हो गये थे जब ऋषियों ने भाषा के सूक्ष्म स्वरूप के अतिरिक्त उसके अन्तर्निहित गूढ़ार्थ को भी जानने की उत्सुकता दर्शायी, ऋग्वेद का अधोलिखित मन्त्र इस बात का परिचायक है—

यो वाचा विवाचो गृध्रवाचः पुरु सहस्त्राशिवा जघान।
तत्तदिदस्य पौंस्यं गृणीमसि पितेव यस्तविषीं वावृधेश्वः।[४]

वैदिक काल में वाक् तत्त्व का माहात्म्य इतना अधिक था कि ऋषियों ने वाक् तत्त्व तथा आत्म-तत्त्व को एकीकृत कर दिया।

व्याकरण का स्वरूप वैदिक काल में इस प्रकार मिलता है कि प्रारम्भ में वाक् तत्त्व अव्याकृत था, देवताओं की प्रार्थना पर इन्द्र ने वाक् तत्त्व को व्याकृत किया—

वाग्वै पराच्यव्याकृतावदत्ते देवा इन्द्रमब्रुबन्निमां नो वाचं व्याकुर्विति
तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत्तस्मादियं व्याकृता वागुच्यते।[५]

---

१ वाक्यपदीय-२.४८४
२ वही, २.४८२
३. वही, १.१४२
४. ऋग्वेद १०.२३.५
५. तैत्तिरीय संहिता ६.४.७.

वैदिक ऋषियों ने समय-समय पर तथा स्थान-स्थान पर व्याकरण सम्बन्धी तत्त्वों के सन्दर्भ में उत्सुकता दर्शायी है तथा जिज्ञासा व्यक्त की है। जब वे प्रातिपदिक, प्रत्यय, लिङ्ग, वचन आदि के सम्बन्ध में प्रश्न करते हैं, उससे स्पष्ट होता है कि व्याकरण के दार्शनिक स्वरूप को जानने व पहचानने के लिये उन्हें अतीव जिज्ञासा थी, तथा व्याकरण गूढ़ार्थ को उन्होंने समझा एवं शङ्काओं का समाधान प्रस्तुत किया।

वाक्, काल, लिङ्ग आदि तत्त्वों को ऋषियों ने महान् शक्ति-सम्पन्न माना है, यही नहीं, अपितु उन्होंने इन व्याकरण तत्त्वों को परमब्रह्म के समीप पहुंचा दिया है—यथा काल से जगत् की उत्पत्ति तथा विकास का वर्णन उपलब्ध होता है, काल सृष्टि को उत्पन्न करता है तथा काल में ही सब कुछ समाहित हो जाता है।

महाभाष्यकार ने केवल व्याकरणात्मक अथवा व्युत्पत्त्यात्मक रूप में ही अष्टाध्यायी का भाष्य नहीं रचा, अपितु विवेचन करते हुये उन्होंने गहन, दार्शनिक, सूक्ष्म रूप में अष्टाध्यायी को 'महाभाष्य' का रूप दिया। भर्तृहरि ने तो पतञ्जलि को 'तीर्थदर्शी' तथा महाभाष्य को 'सङ्ग्रहप्रतिकुञ्चक' संज्ञाओं से सुशोभित कर दिया—

कृतेऽथ पतञ्जलिना गुरुणा तीर्थदर्शिना सर्वेषां न्यायबीजानां महाभाष्ये निबन्धने।[1]

सङ्ग्रहप्रतिकुञ्चके।[2]

माघ ने पस्पशाह्निक को तो शब्दविद्या का सौन्दर्य ही कह दिया, (क्योंकि सम्पूर्ण पस्पशाह्निक में शब्द के ही विभिन्न स्वरूपों—शब्द, शब्द आकृति अथवा द्रव्य, शब्द नित्य अथवा अनित्य आदि का सविस्तार विवेचन महाभाष्यकार ने प्रस्तुत किया है —

सर्वविद्येव नो भाति राजनीतिरपस्पशा।[3]

महाभाष्यकार ने वर्ण, शब्द-शब्द का विंस्तृत विवेचन, लिङ्ग, वचन, संख्या, वृत्ति, वाक्य, काल, गुण, वाक्य, वाक्यार्थ आदि अनेक तत्त्वों को

---

१. वाक्यपदीय २.४७९
२. वही २.४८१
३. शिशुपालवध २.११२

लेकर अपने विवेचन के द्वारा वैयाकरणों को बाध्य कर दिया कि वे उपर्युक्त तथा अन्य अनेकानेक तत्त्वों को व्याकरण दृष्टि के साथ-साथ दार्शनिक दृष्टि से भी अध्ययन करें तथा समीक्षा प्रस्तुत करें। उपर्युक्त तत्त्वों को परवर्ती आचार्यों ने दर्शन तत्त्वों के रूप में मान्यता दी तथा महाभाष्यकार को व्याकरण-दर्शन के प्रथम प्रवर्त्तक के रूप में स्वीकार किया। शब्दार्थ-विवेचन, लिङ्ग-विभक्ति, वचन, क्रियातिपत्ति, गुण, काल, प्रकृति-प्रत्यय आदि विषयों का विवेचन अष्टाध्यायी में उपलब्ध होता है, उससे स्पष्ट है कि आचार्य व्याकरण के दार्शनिक स्वरूप से पूर्णतया परिचित थे—

स्वतन्त्रः कर्त्ता।[१]

कर्मणि च येन संस्पर्शात् कर्त्तुः शरीरसुखम्।[२]

प्रकारे गुणवचनस्य।[३]

"**अर्थवदधारतुप्रत्ययः प्रातिपदिकम्**"[४] सूत्र में व्याकरणाचार्यों ने प्रातिपदिक से अभिप्राय 'परमतत्त्व' लिया है। वह शब्दब्रह्म प्रत्यय, नाम-रूपादि से रहित है। वाक् तत्त्व का जो परम ब्रह्म रूप भर्तृहरि आदि वैयाकरणों ने प्रतिपादत किया, उसका स्वरूप आचार्य पाणिनि को पहले से ही प्राप्त था।

समय तथा प्रबन्ध की सीमाओं के कारण मैं महाभाष्य में उपलब्ध समस्त दार्शनिक तत्त्वों को प्रस्तुत नहीं कर पाई। शब्द, काल तथा लिङ्ग का निरूपण करने पर ही शोध-प्रबन्ध पर्याप्त विस्तृत हो गया कि आगे अन्य तत्त्वों का विवेचन प्रस्तुत करना चाहते हुये भी सम्भव न हो सका। महाभाष्यकार ने इन तत्त्वों के विषय में जो वक्तव्य दिये वे भी महाभाष्य में स्थान-स्थान पर विकीर्ण हैं, जिनकी संख्या व मात्रा बहुत है। एक स्थल पर विवेचन कर लेने के पश्चात् अन्य अनेक स्थलों पर पुनः उन तत्त्वों का सन्दर्भ-संकेत प्रस्तुत किया है। महाभाष्य में उपलब्ध इन दार्शनिक तत्त्वों की एक कड़ी सी बन गयी है जो दार्शनिक विषय महाभाष्य में उपलब्ध होते हैं, उनका दिग्दर्शन दार्शनिक रूप में वैदिक ग्रन्थों में भी किया जा सकता है तथा पृष्ठभूमि आचार्य पाणिनि के सूत्रों में उपलब्ध होती है, जिन

---

१. अष्टाध्यायी १.४.५४

२. वही ३.३.२२६

३. वही ८.१.१२.

४. वही १.२.४५

पर व्याडि तथा कात्यायन ने भी दार्शनिक रूप में भी विचार-विमर्श किया। परवर्त्ती वैयाकरणों में भर्तृहरि ने महाभाष्यकार के दार्शनिक पक्ष को सादर स्वीकार किया तथा उनको और अधिक विस्तार के साथ प्रस्तुत करके इन व्याकरण-तत्त्वों के आधार पर व्याकरण-दर्शन की स्थापना की। महाभाष्य के दार्शनिक पक्ष की दृष्टि में महाभाष्य के दो टीकाकारों—कैयट तथा नागेशभट्ट का बहुत बड़ा सहयोग रहा है, जिन्होंने दर्शन पक्ष को सम्बल देने के लिये भर्तृहरि के उद्धरणों को भी प्रस्तुत किया, तथा महाभाष्य में आये अन्य दर्शन-सम्प्रदायों के प्रभाव को भी प्रकाशित किया।

व्याकरण में विवेचित दार्शनिक तत्त्वों पर अन्य दार्शनिक-सम्प्रदायों में भी विचार-विनिमय किया गया, सभी दार्शनिक आचार्यों ने इन तत्त्वों को लेकर अपनी धारणायें दीं तथा वे धारणायें उन सम्प्रदायों में सिद्धान्त रूप में स्वीकृत हुयीं—यथा, बौद्ध दार्शनिकों का 'अपोहवाद' व्याकरण के सभी तत्त्वों के सन्दर्भ में प्रकाश डालता है। जैन दार्शनिकों का परमाणुवाद, वैशेषिकों का विशेष, मीमांसकों का जातिवाद, न्यायदर्शन का असत्कार्यवाद, तथा वेदान्तदर्शन का विवर्तवाद भी व्याकरण-तत्त्वों को अपने-अपने अभिप्राय से निरूपित करते हैं। अतः महाभाष्य में उपलब्ध व्याकरण-तत्त्वों का दार्शनिक दृष्टि से विवेचन प्रस्तुत करना तब तक पर्याप्त नहीं हो सकता, जब तक अन्य दर्शन-सम्प्रदायों से महाभाष्यकार के विवेचन की तुलना अथवा साम्य न देखा जाय अथवा महाभाष्य में उन सम्प्रदायों के प्रभाव का निरूपण न किया जाय।

शब्द, अर्थ, स्फोट आदि का विवेचन भाषा-विज्ञान में वैज्ञानिक दृष्टि से एक पृथक् आधुनिक रूप में उपस्थित होता है—यथा स्फोट को जहां व्याकरणाचार्य शब्दब्रह्म की उपाधि से अभिहित करते हैं, वहीं भाषाशास्त्री स्फोट को बौद्धिक सत्ता से पृथक् कुछ नहीं मानते, जो ध्वनि के संयोग से ग्रहण होती है।

उपर्युक्त सभी पक्षों को ध्यानावगत करते हुये मैंने अपने शोध-प्रबन्ध को तीन अध्यायों में प्रस्तुत किया है, प्रथम अध्याय में शब्द—महाभाष्यकार की दृष्टि में शब्द का स्वरूप प्रस्तुत किया है, जो सार्थक ध्वनि से होने वाले प्रत्यय को शब्द मानते हैं।

महाभाष्यकार द्वारा विवेचित शब्द के जाति-व्यक्तिरूप का विशद् अध्ययन प्रथम अध्याय में किया है। साथ ही शब्द के नित्यत्व-अनित्यत्व,

शब्दार्थ-सम्बन्ध पर महाभाष्यकार ने जो विवेचन विस्तार से प्रस्तुत किया है, उसको भी शब्द तत्त्व के अन्तर्गत होने के कारण प्रथम अध्याय से पृथक् नहीं किया है। स्फोट तत्त्व का निरूपण ध्वनि तथा बौद्धिक अर्थ रूप में महाभाष्यकार ने स्वीकार किया है। भर्तृहरि तथा परवर्ती वैयाकरण स्फोट तत्त्व को लेकर जिस उच्च स्वर से उद्घोष करते हैं उस तत्त्व पर महाभाष्यकार ने भी विचार किया है। स्फोट को उन्होंने शब्द (प्रत्यायक अर्थ) तथा ध्वनि को उसका गुण माना है।

द्वितीय अध्याय में महाभाष्यकार द्वारा निरूपित काल तत्त्व को प्रस्तुत किया है, काल का सूक्ष्म विवेचन, काल का विभाजन महाभाष्यकार ने बड़े ही वैदुष्यपूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया है। वर्तमान काल की सत्ता के विषय में हुये वाद-विवाद का निरूपण भी महाभाष्यकार ने किया है। काल को महाभाष्यकार ने सर्वशक्तिमान् माना है, जगत् के समस्त पदार्थों में परिवर्त्तन काल के द्वारा ही होता है। काल क्रिया का परिच्छेदक है। अतः महाभाष्यकार द्वारा निरूपित काल-तत्त्व के सभी स्वरूपों को अपने प्रबन्ध में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

तृतीय अध्याय को अन्तिम अध्याय के रूप में लिया गया है जिसमें लिङ्ग तत्त्व का विवेचन है। महाभाष्यकार ने जगत् के समस्त पदार्थों का विभाजन-प्रत्यायन लिङ्ग के आधार पर ही माना है और लिङ्ग का विभाजन सजीव प्राणियों के प्रत्यय-भेद के आधार पर होता है। संस्त्यान से स्त्री का बोध होता है, स्त्री व पुंस् की साम्यावस्था में नपुंसकलिङ्ग ग्रहण होता है। जार्ज कार्डोना महाभाष्यकार द्वारा निरूपित लिङ्ग को इस प्रकार स्वीकार करते हैं—

"The term linga, used in the meaning 'gender', denotes, in normal Sanskrit, a mark or characteristic. If the term is understood in this sense in grammar, then a linga is a characteristic of males, females and things which are neither."[१]

शब्द, काल तथा लिङ्ग तत्त्व का महाभाष्यकार की दृष्टि से विवेचन प्रस्तुत करने के पश्चात् इन तत्त्वों की वैदिक ग्रन्थों में उपलब्ध पृष्ठभूमि

---

1 (Pāṇini, A Survey of Research, p.257.)

को निरूपित करने का प्रयत्न किया है। वैदिक ऋषियों ने इन तत्त्वों को एक दार्शनिक दैवीय रूप प्रदान किया, उन्होंने इन तत्त्वों को देवी तथा देवताओं के समकक्ष उपस्थित ही नहीं किया, अपितु सर्वशक्तिमान्, जगत् का कर्त्ता स्वीकार किया है। पाणिनि ने सूत्र रचना करते हुये इन तत्त्वों को परिभाषित किया, वहां प्रक्रिया-निरूपण में स्थान-स्थान पर जो विवेचन आचार्य ने दिया, उसमें दर्शन तत्त्वों की झलक अनजाने ही मिल जाती है, जिसका प्रकाशन परवर्त्ती टीकाकारों ने भी किया। अत: शब्द, काल तथा लिङ्ग को आचार्य पाणिनि के मत में भी प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

परवर्त्ती वैयाकरण श्रृंखला में भर्तृहरि से लेकर भट्टोजिदीक्षित तथा कौण्डभट्ट तक वैयाकरणों ने जो तत्त्व निरूपण किया है, वह सर्वथा ही उल्लेखनीय है। नागेशभट्ट ने अपने महाभाष्य प्रदीपोद्योत में महाभाष्य के इन तत्त्वों का विस्तार से विवेचन प्रस्तुत किया है।

विभिन्न दर्शन-सम्प्रदायों में भी इन तत्त्वों को लेकर विशद् चर्चा की गयी, जिसको उन सम्प्रदायों के दार्शनिक सिद्धान्तों के आधार पर प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

उपर्युक्त चर्चित विवरण के अतिरिक्त आधुनिक भाषा- शास्त्र के सन्दर्भ में शब्द, काल तथा लिङ्ग तत्त्व का विवेचन भी प्रस्तुत किया है। इन तत्त्वों को लेकर विभिन्न विद्वानों ने अपने-अपने भिन्न मत दिये, भिन्न विचार प्रस्तुत किये—यथा-कुछ विद्वान् काल को क्रिया का सञ्चालक मानते हैं तो कुछ विद्वान् काल को एक घटक से अतिरिक्त कुछ नहीं समझते।

इतने गहन विषय को लेकर शोध-प्रबन्ध में समाहित करने का जो प्रयास मैंने किया है वह 'उद्बाहुरिव वामन:' ही होगा। यदि किञ्चिदंश में भी यह शोध-प्रबन्ध उपयोगी तथा लाभकारी रहा तो मैं अपने आपको कृतकृत्य समझूंगी।

प्रथम अध्याय

'शब्द'

शब्द वह है जो वक्ता के द्वारा उच्चारित किये जाने पर श्रोता के मस्तिष्क में एक प्रत्यय उत्पन्न करता है। वैयाकरणों ने शब्द को अर्थ-प्रत्यायक माना है। पतञ्जलि "अथ गौरित्यत्र कः शब्दः" इस जिज्ञासा के द्वारा शब्द के स्वरूप को प्रस्तुत करते हैं। गो का वर्ण क्रिया, गुण, जाति-व्यक्ति शब्द नहीं हैं, क्योंकि वे तो 'गो तत्व' का एक पक्ष हैं - सम्पूर्ण गो नहीं। पतञ्जलि शङ्का-समाधान करते हैं—

यत्तर्हि तत् शुक्लो नीलः कपिलः कपोतः इति स शब्दः? नेत्याह, गुणो नाम सः यत्तर्हि तत् भिन्नेष्वभिन्नं छिन्नेष्वछिन्नं सामान्यभूतं स शब्दः? नेत्याह, आकृतिर्नामि सा।

लोक में शब्द अर्थ के साथ अपृथक् रूप से जुड़ा है, यथा — 'अयं गौः', 'अयं शुक्लः' उच्चारण करने पर गौ शब्द से गो वस्तु अथवा तद्गुण को पृथक नहीं समझा जाता।

महाभाष्यकार के अनुसार शब्द द्रव्य, क्रिया, गुण अथवा जाति से भिन्न कोई पृथक् सत्ता है, अर्थात् शब्द वह है जिसके उच्चारण से सास्ना, लाङ्गूल आदि से युक्त वस्तु का ज्ञान होता है —

'येनोच्चारितेन सास्नालाङ्गूलककुदखुरविषाणिनां संप्रत्ययो भवति,' स शब्दः।'

कैयट का अभिप्राय है कि वह सत्ता जिसके द्वारा वस्तु-ज्ञान होता है तथा जिसे शब्द कहते हैं, वह स्फोट है, जिसका विवरण वाक्यदीप में दिया गया है —

— अर्थप्रतिपत्यविशेषप्रसङ्गात्तद्व्यतिरिक्तः स्फोटो नादाभिव्यङ्ग्यो वाचको विस्तरेण वाक्यपदीये व्यवस्थापितः। नागेशभट्ट का अभिप्राय है कि शब्द वर्णों के स्फोट का अभिव्यञ्जक है–

'वर्णानां स्फोटव्यञ्जकत्वाभ्युपगमात्।'

शब्द में प्रत्येक वर्ण प्रत्यायक है। शब्द से अर्थ सम्पूर्ण शब्द के सुन लेने के पश्चात् ही होता है।राम शब्द के उच्चारण में वक्ता जब 'र' से प्रारम्भ करके 'म' तक आता है, तभी वह 'राम' शब्द के अर्थ का बोध कराता है।

प्रो. सुब्रमण्य शास्त्री ने इस प्रकार अभिव्यक्त किया है-

'शब्द वह नहीं है जो हम सुनते हैं, अपितु शब्द वह है जिसका' प्रत्यय सम्पूर्ण शब्द को सुन लेने के बाद होता है।'[१]

महाभाष्यकार शब्द की एक अन्य परिभाषा प्रस्तुत करते हैं–

'अथवा प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते।'

लोक में पदार्थ-ज्ञान कराने वाली ध्वनि को शब्द समझना चाहिये, यथा – 'शब्दं कुरु', 'मा शब्दं कार्षीः' कहने से ध्वनि ही अभिप्रेत है, अतः शब्द से ध्वनि अर्थ ही ग्रहण होता है। लोक में सामान्यतः 'शब्द' से ध्वनि अर्थ ही गृहण किया जाता है।उन्होंने **'येनोच्चारितेन सास्नालाङ्गलककुदखुरविषाणिनां सम्प्रत्ययो जायते स शब्दः**– परिभाषा से अभिप्रेतार्थ 'मध्यमा वाक्य' तथा 'प्रतीतपदार्थको ध्वनिः' वाक्य से 'वैखरी वाक्' अर्थ गृहण किया है, उनका कथन निम्नलिखित है–

'ध्वनिपदेनात्र वैखरी, स्फोटपदेनाभिव्यक्तकत्वादिको मध्यमावस्थ आन्तरः शब्दः उच्चते।'

महाभाष्यकार की 'ध्वनिः शब्दः' परिभाषा के सन्दर्भ में प्रोफेसर सुब्रमण्य शास्त्री का मत है –

---

१. Śabda is not what we hear, but it is that which is manifested in the mind after the whole word is pronounced — Lectures on patañjali's Mahabhaṣya, Vol. I, p.17.

"Even though that येनोच्चारितेन सास्नालाङ्गूलककुदखुर-विषाणिनां सम्प्रत्ययो जायते स शब्दः is the true definition of a word, yet Mahābhāṣyakāra suggests another definition also which is current in the world."

उच्चारण के साथ सर्वप्रथम ध्वनि ही श्रोता तक पहुँचती है। पतञ्जलि एक अन्य परिभाषा के द्वारा शब्द को स्पष्ट करते हैं —

" श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेणाभिज्वलितः आकाशदेशः शब्दः।

श्रवणेन्द्रिय से उपलब्ध होकर जो बुद्धि द्वारा ग्रहण किया जाय तथा जिस प्रयोजन के साथ वह उच्चरित हुआ है उसमें वह सफल है तथा जिसकी अवस्थिति 'आकाशदेश' है — वह शब्द है। पुनः महाभाष्यकार का संकेत प्रतीतपदार्थक ध्वनि की ओर है। उपर्युक्त परिभाषा में महाभाष्यकार ने तीन तत्वों की ओर संकेत किया है, वे तत्व हैं — शब्द के उच्चारण की प्रक्रिया, श्रोता द्वारा श्रवण करना तथा बुद्धि द्वारा ग्रहण। डॉ. एस. डी. जोशी का मत है कि शब्द स्फोट रूप में होने पर उच्चारण-प्रक्रिया द्वारा प्रस्तुत ध्वनि स्वरूप को ही प्रस्तुत करता है।स्पष्ट है कि भिन्न-भिन्न सन्दर्भों मे शब्द के भिन्न-भिन्न रूप 'शब्द' के द्वारा प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

अतः महाभाष्यकार के द्वारा शब्द के सन्दर्भ में दी गयीं तीनों परिभाषायें उपर्युक्त तीनों तत्वों की ओर संकेत करती हैं। प्रथम परिभाषा 'शब्द' के संकेतितार्थ की ओर संकेत करती है, द्वितीय परिभाषा शब्द के ध्वन्यात्मक ज्ञान की ओर संकेत करती है तथा तृतीय परिभाषा बुद्धिग्राह्य ध्वनि की ओर संकेत करती है।

व्याकरणाचार्य शब्द को ज्ञान का परिणाम मानते हैं, इसका उल्लेख महाभाष्यकार ने 'आख्यातोपयोगे' सूत्र की व्याख्या करते हुये इस प्रकार किया है कि ज्ञान ज्योति के तुल्य होते हैं—

"ज्योतिर्वज्ज्ञानानि भवन्ति।"

ध्वनियां शब्द की व्यंजक हैं, ये भिन्न-भिन्न होते हुये भी सादृश्य के कारण ग्रहण की जाती हुयी श्रोता के कर्ण प्रदेश में पहुंच कर व्यक्ति-स्फोट अथवा जातिस्फोट के रूप में शब्द को अभिव्यक्त करती हैं।ज़िस प्रकार ज्वालारूप ज्योति निरन्तर प्रसृत होते रहने के कारण तथा परस्पर सादृश्य

के कारण एकरूप ग्रहण की जाती है, उसी प्रकार आचार्य के ज्ञान भी भिन्न-भिन्न शब्दरूपता को प्राप्त कर सदैव उच्चारित होते हैं। "ज्योतिर्वज्ज्ञानानि" पद से यहां महाभाष्यकार शब्द के स्फोटात्मक स्वरूप की ओर संकेत करते हैं। उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि महाभाष्यकार ने शब्द सम्बन्धी विभिन्न दार्शनिक दृष्टिकोणों का अध्ययन किया। महाभाष्यकार द्वारा प्रोक्त शब्द सम्बन्धी विभिन्न परिभाषाओं का अध्ययन करने से स्पष्ट हो जाता है कि महाभाष्यकार ने शब्दग्रहण प्रक्रिया का सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत किया है तथा शब्द की स्थिति के विषय में भी उन्होंने स्पष्टतः उल्लेख किया है।

वैदिक ग्रन्थों में शब्द का स्वरूप–

संस्कृत व्याकरण-दर्शन की रूपरेखा वैदिक काल में ही अपना स्थान बना चुकी थी, धातु, प्रातिपदिक आदि के विषय में. ऋषियों को प्राचीनकाल से ही शंकायें थीं, शब्द क्या है, धातु क्या है तथा नाम आख्यात क्या हैं आदि तत्व अतिप्राचीन काल से ही वैदिक ऋषियों के लिये प्रश्न का विषय बने हुये थे। गोपथ ब्राह्मण में एक उद्धरण उपलब्ध होता है–

"ओंकारं पृच्छामः, को धातुः, किं प्रातिपदिकम्, किं नामाख्यातम्, किं लिङ्गम्, किं वचनम्, का विभक्तिः कः प्रत्ययः इति।"[१]

वैदिक ऋषियों ने इस प्रकार के विषयों से सम्बन्धित शङ्काओं के साथ-साथ उनके समाधान भी प्रस्तुत किये। गोपथ ब्राह्मण के ही एक अन्य उद्धरण से स्पष्ट होता है कि आख्यात, उपसर्ग, अनुदात्त, स्वरित, लिङ्ग विभक्ति तथा वचन के ज्ञाता आचार्य पूर्व काल में हुये थे–

"आख्यातोपसर्गानुदात्तस्वरितलिङ्गविभक्तिवचनानि च संस्थानाध्यायिनः आचार्याः पूर्वे बभूवुः।"[२]

इससे स्पष्ट होता है कि वैदिक ऋषियों को इन व्याकरण-तत्वों के दार्शनिक स्वरूप का सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त था। वेदों में वाक् तत्व का अनेक

---

१. गोपथ ब्राह्मण, प्रथम प्रपाठक १/२४

२. वही १,२७

रूपों में विभिन्न प्रकार से विवेचन किया गया है। स्थान-स्थान पर 'शब्द' के लिये 'वाक्' शब्द प्रयुक्त हुआ है तथा वाक् को वाक् देवता के रूप में प्रस्तुत किया गया है। ऋग्वेद के दशम् मण्डल में वाक् तत्व का आत्म विवेचन है, इस मन्त्र का ऋषि वागम्भृणी है तथा देवता वाक् है। निम्नोक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है कि वाक् तत्व को समस्त तत्वों के आधार के रूप में स्वीकारा गया है–

"अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः
अहं मित्रावरुणशोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा।"

मन्त्रार्थ इस प्रकार है – "मैं रुद्रों, वसुओं, आदित्यों तथा विश्वदेवों के साथ विचरण करता हूं। मैं मित्र व वरुण दोनों को धारण करता हूं। मैं इन्द्र तथा अग्नि दोनों को धारण करता हूं।

यहां मित्र और वरुण से अभिप्राय क्रमशः प्राणतत्व तथा अपानतत्व से है तथा इन्द्र और अग्नि से तात्पर्य सौरतत्व व अग्नितत्व से है।

ऋग्वेद के एक अन्य मन्त्र में वाक् तत्व के द्वारा इस प्रकार कहलवाया गया है कि जो मेरा साक्षात्कार करता है, जो मुझको अनुप्राणित करता है और मेरे वचन को यथार्थतः श्रवण करता है, वह अन्न का उपभोग करता है, जो मुझ पर अर्थात् शब्द तत्व, प्रतिभा पर विश्वास नहीं करते, वे स्वयं नष्ट हो जाते हैं। मन्त्र इस प्रकार है–

"मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणिति यईंश्रृणोत्युक्तम्।
अमन्तवो मां त उपक्षियन्ति श्रुद्धि श्रुत श्रद्धिवं ते वदामि।

उपर्युक्त दोनों उद्धरणों पर दृष्टिपात करने पर यह अनुभव होता है कि यहां वाक् तत्व से तात्पर्य शब्द ब्रह्म से है जो स्वयं में सम्पूर्ण है तथा शब्दशक्ति का संचालक है। वाक् तत्व का उचित ज्ञान न होने पर मनुष्य पातकी हो जाता है। वाक् तत्व से ही विश्व की सृष्टि बतलाई गयी है।एक अन्य मन्त्र में वाक् तत्व के विस्तार के विषय में चर्चा उपलब्ध होती है–

"सहस्त्रधा पञ्चदशान्युक्त्या यावद् द्यावापृथिवी तावदिति तत्।
सहस्त्रधा महिमानः सहस्त्रं यावत् ब्रह्मविष्ठितं तावतींर्वाक्।

वाक् तत्व का विस्तार सहस्र प्रकार से है, द्युलोक तथा पृथिवी की सीमाओं तक वाक् कां विस्तार है। सहस्र प्रकार से उसकी महिमा प्रतिष्ठित है तथा वाक् तत्व ब्रह्म के समान ही सर्वत्र व्याप्त है।वाक् तत्व का ब्रह्म से साम्य व्याकरण-दर्शन के शब्द-ब्रह्म से बहुत अधिक सामीप्य दर्शाता है। ऋग्वेद में ही स्थान-स्थान पर वाक् तत्व के माहात्म्य के सन्दर्भ में अनेक उद्धरण उपलब्ध होते हैं, जिनमें वाक् तत्व के विभिन्न स्वरूपों को प्रकाशित किया गया है। एक स्थल पर उसको दिव्य वाणी के रूप में प्रस्तुत किया गया है जिसका उच्चारण देवतागण तथा पशु इत्यादि करते हैं। वह वाक् देवलोक की धेनु के रूप में ऐश्वर्यदायिनी है–

"देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति।
सा नो मन्द्रषमूर्जं दुहाना धेनुर्वाकास्यानुपसुष्टुतैतु।

एक ही शब्द तत्व को अनेक नामों से अभिहित किया गया है, उस एक ही तत्व को सत्, नित्य आदि रूपों में ऋषियों ने देखा है, जैसाकि प्रस्तुत मन्त्र से स्पष्ट होता है–"एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः। व्याकरण-दर्शन में वाक् के जिस तत्व को प्रतिभा कहा गया है, उसी तत्व को वेद में मेधा-तत्व के नाम से जाना गया है, यजुर्वेद के एक मन्त्र में उस मेधातत्व की उपासना की गयी है–

"यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते।
तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु॥

अग्नि देवता से प्रार्थना की गयी है कि वे हमें भी मेधावी बनायें, अर्थात् जिस मेधा तत्व की देवगण व पितृगण उपासना करते हैं, उस मेधा को हमें भी प्रदान करें।

ऋग्वेद के दो मन्त्रों का उल्लेख तो शब्द के सन्दर्भ में महाभाष्यकार ने किया है। प्रथम मन्त्र में वृषभ को वाक् तत्व (शब्द) के रूप में प्रस्तुत किया गया है। मन्त्र इस प्रकार उद्धृत है–

"चत्वारि श्रृङ्गा त्रयोऽस्य पादाः द्वे शीर्षे सप्तहस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यामाविवेश॥

महाभाष्यकार ने उस वृषभदेव शब्द का निरूपण इस प्रकार किया है–

उस शब्द के चार सींग चार पद हैं- नाम, आख्यात, उपसर्ग व निपात। उसके तीन पैर – भूत, भविष्यत् व वर्तमानकाल हैं। नित्य व कार्य अथवा सत्य तथा असत्य – ये दो उसके शीर्ष हैं अथवा स्फोट व ध्वनि (शब्दात्मानौ) दो शीर्ष हैं। उस वृषभदेव के सात हाथ सात विभक्तियां हैं। वह शब्द तीन स्थानों पर – हृदय, कण्ठ तथा सिर पर आबद्ध है। वह अर्थ का वर्षण करता है, अतः वृषभ है।

ऋग्वेद का द्वितीय मन्त्र इस प्रकार है–

"चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥"

यहां 'तुरीयं वाचः' से महाभाष्यकार ने वाक् के चतुर्थांश से तात्पर्य लिया है – 'तुरीयं वा एतद्वाचो यन्मनुष्येषु वर्तते चतुर्थमित्यर्थः।' तात्पर्य यह है कि सामान्य जन को वाणी का चतुर्थांश ही ज्ञात होता है, अधिकांश भाग तो गुह्य होता है। टीकाकार नागेश ने 'पदजातानि' से तात्पर्य वाणी के चार स्वरूप– परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी तथा नाम, आख्यात, उपसर्ग तथा निपात से लिया है– "परापश्यन्तीमध्यमावैखर्यः, नामादीनि च।"

पाणिनि, कात्यायन एवं पतञ्जलि मुनित्रय ने प्रतिभा को ही नित्य शब्द, नित्य अर्थ स्वीकार किया है। योगसूत्र में भी एक उद्धरण उपलब्ध होता है जिसमें प्रतिभा को 'प्रणव' नाम से जाना गया है– "तस्य वाचकः प्रणवः।"

इस प्रणव - 'ओम्' को तीन भागों – अ,उ,म् में विभक्त करके 'भूर्भुवः स्वः' – भूः, भुवः, स्वः – इस व्याहृति की सिद्धि की गयी, यजुर्वेद में उस महाव्याहृति परमेष्ठी प्रजापति को वाक् नाम से अभिहित किया गया है–

"परमेष्ठ्यभिधीतः प्रजापतिर्वाचि व्याहृताम्"

एक ही प्रतिभा को वाक् तत्व, मनस् तत्व तथा प्राणतत्व नामों से अभिहित किया गया है तथा उसको तीनों वेदों के रूप में विभाजित किया गया है, अर्थात् ऋग्वेद प्रतिभा के वाक् तत्व को प्रतिपादित करता है, यजुर्वेद प्रतिभा के मनस् तत्व को प्रस्तुत करता है तथा सामवेद प्रतिभा के प्राणतत्व को निरूपित करता है –

'ऋचं वाचं प्रपद्ये मनो यजुः प्रपद्ये साम प्राणं प्रपद्ये।"

व्याकरण-दर्शन के अनुसार संसार की समस्त सृष्टि शब्दमयी है, शब्द से व्याप्त है, ओतप्रोत है, कुछ भी शब्द से परे नहीं है; यही पुष्टि वेदों में उपलब्ध भिन्न-भिन्न उद्धरणों से भी होती है। वैदिक ग्रन्थों में वाक् तत्व को सर्वशक्तिमान समझा गया है, देवता तथा मनुष्य भी उस 'वाक्' के अधीन हैं आदि-आदि।इसी प्रसंग में एक उद्धरण केनोपनिषद में प्राप्त होता है—

"यद् वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।
यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।"

वह अक्षर तत्त्व वाणी के द्वारा अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता किन्तु जिसके द्वारा वाणी वाक्-शक्तिसम्पन्न होती है, वह ब्रह्म स्वरूप है, वह मन के द्वारा बांधा नहीं जा सकता, किन्तु मनन शक्ति उसी के द्वारा प्राप्त होती है, वही अक्षरतत्त्व ब्रह्म स्वरूप है। वाक्यपदीयकार ने भी वैदिक ऋषियों की मान्यता को स्पष्टतः प्रस्तुत किया है। उनका कथन है कि वैदिक ऋषियों ने इस स्थावर-जङ्गम जगत् को शब्द का परिणाम माना है तथा सर्वप्रथम इस जगत् की सृष्टि शब्द के विवर्त के रूप में हुयी—

"शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नायविदो विदुः
छन्दोभ्य एव प्रथममैतद्विश्वं व्यवर्तत।" [१]

जैमिनीयोपनिषद् में उपलब्ध एक उद्धरण में विवरण मिलता है कि शब्द को श्रोत्र के द्वारा ग्रहण किया जाय— "श्रोत्रेण शब्दान् वेदेति वेद।" [२] श्रोत्र के द्वारा ध्वनि का ही ग्रहण होता है। अतः स्पष्ट है कि ऋषियों ने अर्थ-प्रत्यायक ध्वनि को शब्द माना है। बृहदारण्यकोपनिषद् में वाक् की स्थिति उर (हृदय) में मानी है—"कस्मिन्नु वाक् प्रतिष्ठतेति हृदय इति।[३]

१. वाक्यपदीय १.१२०
२. जैमिनीयोपनिषद् ४, ११, ५, ६
३. बृहदारण्यकोपनिषद् ३.९.२४

व्याकरणाचार्यों ने भी शब्द की स्थिति बुद्धि, कण्ठ के साथ-साथ हृदय में मानी है।[१] शब्द प्रक्रिया के सन्दर्भ में वाक्यपदीयकार ने मत प्रस्तुत किया है कि शब्द अन्तःकरण (हृदय) से होता हुआ वायु के आश्रयीभूत होकर (कण्ठ से होकर) तेजस् के द्वारा विवृत होता है।

गर्भोपनिषद् में छह प्रकार के ध्वनि के आरोह-अवरोह बताये गये हैं, जिनके द्वारा समस्त शब्द-ज्ञान होता है--

"षड्जर्षभगान्धार पञ्चम धैवत निषादश्चेतीष्टानिष्टब्दसंज्ञाः।[२]

वेदों की भाषावैज्ञानिक रूप से व्याख्या तथा उनके मन्त्रों का व्याकरणात्मक अध्ययन यास्क ने प्रस्तुत किया। पदों का विभाजन सर्वप्रथम निरुक्तकार ने ही प्रस्तुत किया--

"तद्यान्येतानि चत्वारि पदजातानि नामाख्याते च, उपसर्गनिपाताश्च, तानीमानि भवन्ति।"[३]

निरुक्तकार ने भी अर्थतत्त्वों का विकास वाक्तत्व से माना है, वाक् अर्थों को प्रकाशित करता है--"वाक् पुनः प्रकाशयत्यर्थान्।"[४] अर्थज्ञान से पूर्व शब्दज्ञान की आवश्यकता यास्क ने अपेक्षित मानी है। उनके अनुसार यदि केवल शब्द ज्ञान है, उसका अर्थ ज्ञान नहीं है तो वह ज्ञान बिना अग्नि के शुष्क ईंधन के समान है जो प्रज्वलित नहीं हो सकता--"यद् गृहीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते।अनग्नाविव शुष्कैंधो न तज्ज्वलतिकर्हिचित्।"[५]

यास्क ने उद्घोष किया है—'अर्थवन्तः शब्दसामान्यात्'[६] जिसका अभिप्राय है कि वैदिक शब्द अर्थवान् हैं लौकिक शब्दों के समान होने से इससे स्पष्ट होता है कि निरुक्तकार ने शब्द का अर्थ लोकप्रचलित प्रत्यय कराना

---

१. "त्रिषु स्थानेषु बद्धः-उरसि कण्ठेशिरसीति ॥।-- महाभाष्य १.१.१. परस्शाहिनक"अन्तःक्रणतत्त्वस्य वायुराश्रयतां गतः तद्धर्मेण समाविष्टस्तेजसैव विवर्तते--वाक्य० १.११४.

२. गर्भोपनिषद् ६.

३. निरुक्त १.१.

४. निरुक्त ९.१५

५. वही १.१७

६. वही १.१६

माना है। निरुक्तकार ने स्वयं अपने पूर्ववर्ती आचार्य का मत प्रस्तुत किया है— **"इन्द्रियनित्यं वचनमौदुम्बरायणः ।"** स्पष्ट है कि औदुम्बरायण ने भी शब्द को ध्वनियुक्त सार्थक प्रतिपत्ति स्वीकार किया है।[१]

निष्कर्ष रूप में, वैदिक ग्रन्थों में उपलब्ध वाक् सम्बन्धी अनेकानेक उद्धरणों का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि महाभाष्यकार ने जिस प्रश्न से अपना व्याकरणभाष्य प्रारम्भ किया, कि 'शब्द क्या' है? उस प्रश्न का उत्तर स्थान-स्थान पर वेदों, ब्राह्मणों तथा उपनिषद् ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। वैदिक ऋषियों ने यह स्वीकार किया है कि वाक्, जिसको वैयाकरणों ने शब्द नाम से अभिहित किया है, अर्थमयी है, समस्त अर्थज्ञान वाक् के द्वारा ही सम्भव है।

आचार्य पाणिनि द्वारा निरूपित शब्द

शब्द के विषय में जो दार्शनिक दृष्टिकोण तथा शब्द विवेचन महाभाष्यकार ने प्रस्तुत किया है, उसकी सांकेतिक पृष्ठभूमि आचार्य पाणिनि के द्वारा अष्टाध्यायी में स्थान-स्थान पर दिये गये सूत्रों में सुष्ठु प्रकारेण दृष्टिगोचर होती है। यदि शब्द अर्थवान् न होता तथा यदि शब्द अपने अभिप्रेतार्थ को ज्ञापित कराने में समर्थ न होता तो शब्द की आचार्य द्वारा प्रस्तुत की गयी प्रकृति-प्रत्ययमयी सूक्ष्म विवेचना कभी सम्भव न हो पाती तथा उसका अपना अर्थ सम्भव नहीं हो पाता। आचार्य पाणिनि ने तो प्रत्येक धातु का पृथक् अर्थ बताया है तथा उसमें लगने वाले प्रत्येक प्रत्यय से धातु के अर्थ में परिवर्तन हो जाता है। **'शब्दवैरकलहाभ्रकण्व मेघेभ्यः करणे"**[२] सूत्र की व्याख्या करने पर स्पष्ट हो जाता है कि करण अर्थ में, अर्थात् "शब्दं करोति, शब्दायते"—शब्द करता है अथवा शब्दायमान होता है। उपर्युक्त सूत्र में उद्धृत "शब्द" से ध्वनि अर्थ प्रतिपादित होता है।उपर्युक्त सूत्र के पूर्व के एक सूत्र—**'स्वं रुपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा'**[३] से निरूपित होता है कि शब्द अपने स्वरूप का ही संज्ञा है, प्रत्यायक है, आचार्य का मन्तव्य इस प्रकार लिया जा सकता है कि शब्द (ईप्सित वस्तु

---

१. वही १.२

२. अष्टाध्यायी ३.१.१७. सिद्धान्तकौमुदी

३. अष्टाध्यायी १.१.६८

का प्रत्यायक) वस्तु के सम्पूर्ण स्वरूप का संकेत देता है। सिद्धान्तकौमुदी के टीकाकार श्री वासुदेव दीक्षित इस प्रकार व्याख्या प्रस्तुत करते हैं कि 'अग्नेर्ढक्' इत्यादि सूत्र में अग्नि आदि शब्द का वही स्वरूप ग्रहण किया जाएगा जो लोकश्रुत हो, अग्नि का भिन्न अर्थ भी नहीं ग्रहण होगा तथा अग्नि का पर्याय अर्थ भी नहीं ग्रहण किया जाएगा—"अग्नेर्ढगित्यादौ अग्न्यादिशब्दस्य यत् स्वरूपं श्रुतं तदेव अग्न्यादि शब्दैः प्रत्येतव्यम्, न तु तदन्यः तत्तत्पर्यायोऽपि।"[१] पर्याय तथा विपर्यय का उल्लेख कर देने पर व्याख्याकार जाति-व्यक्ति और सामान्य-विशेष की ओर संकेत करते हैं—ऐसा स्पष्ट परिलक्षित होता है। अष्टाध्यायी के एक अन्य सूत्र "प्रथने वावशब्दे"[२] की व्याख्या करते हुये काशिकाकार स्पष्ट करते हैं—

"अशब्दे इति किम्? विस्तरो वचसाम्।" [३]

अर्थात् वाणी का प्रथन अथवा विस्तार। स्पष्ट है कि इस समय में शब्द का वागर्थ-सुस्पष्ट अर्थमयी वाणी अर्थ लिया जाने लगा। अष्टाध्यायी के सूत्र 'अशब्दे यत्खावन्यतरस्याम्' की व्याख्या में 'अशब्दे' पद से अभिप्राय है कि जो वर्गों से (वर्णों के) तथा प्रातिपदिकों से भिन्न है, वह शब्द नहीं है—

"वर्गान्तात्प्रातिपदिकादन्यतरस्याम्।" [४]

अतः स्पष्ट है कि प्रातिपदिक को शब्द मान कर आचार्य पाणिनि ने सूत्र रचना की। 'अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्'[५] सूत्र का अर्थ वैयाकरण-निकाय बहुत दार्शनिक रूप में प्रस्तुत करते हैं। व्याकरणाचार्यों ने प्रातिपदिक को न केवल शब्द ही माना है, अपितु उसे शब्द ब्रह्म की संज्ञा से अभिहित किया है। अतः प्रातिपदिक अर्थवान् हैं तथा प्रत्यय और धातु के बन्धन से रहित है। अतः इसका स्पष्ट संकेत स्फोट की ओर है जो वाक् की मध्यमा अवस्था कही जा सकती है।

---

१. सिद्धान्तकौमुदी, प्रथम भाग १.१.६८ बालमनोरमाटीका
२. अष्टाध्यायी ३.३.३३
३. काशिका ३.३.३३
४. वही ४.३.६४
५. अष्टाध्यायी १.२.४५

स्थल-स्थल पर आचार्य पाणिनि द्वारा वर्णित 'शब्द' का भिन्न-भिन्न सूत्रों में, भिन्न-भिन्न प्रसंगों में अवलोकन करने पर 'शब्द का एक विकसित होता हुआ प्रस्फुटित रूप दृष्टिगत होता है। उपर्युक्त उद्धरणों का अवलोकन करने से स्पष्ट होता है कि आचार्य पाणिनि को शब्द के वैज्ञानिक व दार्शनिक स्वरूप के विषय में पर्याप्त ज्ञान था, जो उनके सूत्रों में, शब्द के सन्दर्भ में ध्वनि, प्रत्यायक, वाक् आदि रूपों को प्रस्फुटित करता है।

परवर्ती व्याकरणाचार्यों के अनुसार शब्द

महाभाष्य में उपलब्ध दार्शनिक तत्त्वों को आधार बना कर संस्कृत व्याकरण को दर्शन की कोटि में रखने का श्रेय वाक्यपदीयकार भर्तृहरि को जाता है। उन्होंने महाभाष्यकार द्वारा निरूपित तत्त्वों को पूर्णविकास प्रदान किया तथा अन्य दर्शन सम्प्रदायों के सन्दर्भ में भी उन्हें प्रस्तुत किया। वाक्यपदीयकार ने शब्द के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है, उन्होंने शब्द का दो प्रकार का स्वरूप ग्रहण किया है—

"द्वावुपादानशब्देषु शब्दौ शब्दविदो विदुः
एको निमित्तं शब्दानां अपरोऽर्थे प्रयुज्यते।"[1]

उपादान शब्दों में शब्द दो प्रकार का है, एक तो शब्दों का निमित्त अर्थात् वक्ता द्वारा श्रोता तक अर्थ पहुंचाने का माध्यम अर्थात् ध्वनि और दूसरा स्वरूप अर्थ में प्रयुक्त होता है वह है स्फोट रूप। वाक्यपदीयकार के मत में शब्दों को उपादान इसलिये कहते हैं क्योंकि उनमें समुदाय वर्ण-समूह की उपादेयता होती है। अपनी वृत्ति टीका में उन्होंने इस प्रकार अभिव्यक्त किया है—

"उपादीयते येनार्थः, स्वरूपेऽध्यारोप्यते,
तद्भावमिवापद्यते स उपादानशब्दः।"[2]

तात्पर्यतः अर्थ का जो वाचक है तथा शब्दव्युत्पत्ति कर्म में जो प्रयोजक है वह 'उपादान' है।

वाक्यपदीयकार शब्द को ही स्फोट तथा शब्दशक्ति मानते हैं, शब्द को ज्ञापित कराने के लिये प्रयुक्त ध्वनि तो केवल स्फोट ज्ञान कराने में

१. वाक्यपदीय १, ४४
२. वहीं १.४४ 'वृत्ति'

एक माध्यम रूप है। उन्होंने शब्द और अर्थ एक ही आत्मा (स्फोट) के दो भेद माने हैं—

'एकस्यैवात्मनो भेदौ शब्दार्थावपृथक् स्थितौ।"[१]

पुण्यराज ने इस प्रकार स्पष्ट किया है कि शब्द और अर्थ परस्पर अभिन्न रूप से सम्बद्ध हैं, उनमें भेद तो बाह्य रूप से प्रतिभासित होता है (वह वास्तविक भेद नहीं है)—

"शब्दार्थावभिन्नावैकस्यान्तरस्य तत्वस्यसम्बन्धिनौ वस्तुतः बहिः स्थितौ भेदाविव प्रतिभासते।" [२]

अभिप्राय यह है कि वाक्यपदीयकार सार्थक शब्दों को ही शब्द मानते हैं, निरर्थक ध्वनियों को नहीं। अनुभव किये गये सार्थक शब्दों में दो तत्त्व सदैव विद्यमान रहते हैं—एक ध्वनि तत्त्व जो भिन्न-भिन्न भी हो सकता है तथा दूसरा तत्त्व जो स्वयं में अर्थवान् होता है। डॉ० गौरीनाथ शास्त्री इसी "स्फोट" के लिये Logos[३] — शब्द का प्रयोग करते हैं।

वाक्यपदीयकार के अनुसार संसार में कोई भी ज्ञान ऐसा नहीं है जो शब्द-ज्ञान के बिना सम्भव हो। समस्त ज्ञान शब्द के साथ संयुक्त सा प्रतीत होता है—

"न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते।"[४]

विश्व को बांधने वाली शक्ति शब्दों में ही है, अर्थात् समस्त जगत् पदार्थ शब्दों में ही समाहित है। शब्द ही प्रतिभा के रूप में नेत्र के समान है जिससे पदार्थ-भेद ज्ञापित होता है, "शब्देष्वेवाश्रिता शक्तिर्विश्वस्यास्य निबन्धनी यन्नेत्रः प्रतिभात्मायं भेदरूपः प्रतीयते।"[५]

---

१. वही २.३१
२. वही २.३१ पुण्यराज
३. The fact 'logos' stands for an idea as well as a word wonderfully approximates to the concept of Sphota. — Philosophy of words & meaning p. 103.
४. वाक्यपदीय १.११५
५. वही १.११०

वाक्यपदीयकार की मान्यता यह है कि वाक् अर्थयुक्त है, प्रतिभामय है तथा शब्द व अर्थ वाच्य-वाचक रूप से परस्पर संयुक्त हैं। यह समस्त संसार-जाल शब्द का ही परिणाम है तथा छन्दों से (शब्दों से) ही सर्वप्रथम विश्व की सृष्टि हुयी है—

"शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नायविदो विदुः
छन्दोभ्य एव प्रथममैतविश्वं व्यवर्तत।"[१]

संसार में क्रिया-व्यापार भी शब्द के द्वारा संचालित है। भर्तृहरि तो यहां तक दृढ़ विचारों के हैं कि बालक (शिशु) को भी उसके पूर्व जन्म के संस्कारों के कारण शब्द-ज्ञान होता है, कारिका इस प्रकार है—

"इति कर्त्तव्यता लोके सर्वा शब्दव्यपाश्रया।
या पूर्वाहितसंस्कारो बालोऽपि प्रवर्तते।"[२]

वाक्यपदीयकार ने अनेक आचार्यों के शब्द सम्बन्धी मत प्रस्तुत किये हैं। कुछ विद्वान् वायु को शब्द मानते हैं, कुछ आचार्य परमाणु को शब्द मानते हैं तथा कुछ आचार्य ज्ञान को शब्द मानते हैं—

"वायोरणूनां ज्ञानस्य शब्दत्वापत्तिरिष्यते।
कैश्चिद् दर्शनभेदोऽत्र प्रवादेष्वनवस्थितः॥"[३]

शब्दतत्त्व स्वयं में अविक्रियाधर्मी है तथा क्रियाधर्मी ध्वनि के द्वारा क्रियावान् होता है। शब्द पहले बुद्धि के द्वारा वितर्कित किया जाता है ततः वह अर्थ को धारण करता है पुनः श्रोत्रादिकरण के द्वारा विवृत्त हुआ ध्वनि के द्वारा ग्रहण होता है, उद्धरण द्रष्टव्य है—

"वितर्कितः पुरा बुद्ध्या क्वचिदर्थे निवेशितः।
करणेभ्यो विवृत्तेन ध्वनिना सोऽनुगृह्यते॥"[४]

नाद के संघात से अविवर्त शब्द ध्वनि के साथ मिला हुआ विवृत्त सा प्रतीत होता है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि वाक्यपदीयकार ने शब्द को सांसारिक क्रिया-कलापों की धुरी माना है, शब्द ही उनका संचालक है। शब्द में

१. वाक्यपदीय १.११३
२. वही १.११३
३. वाक्यपदीय १.१०७
४. वही १.४७

प्रतिभा शक्ति है जो अर्थज्ञान कराने में सहायक होती है। वाक्यपदीयकार ने शब्द के ध्वनिरूप से पृथक् प्रत्यायकरूप को सफोट की संज्ञा से अभिहित किया है, इसकी अवस्थिति बुद्धि है तथा स्फोट को ही उन्होंने शब्द-ब्रह्म माना है।

कैयट के मत में प्रत्येक वर्ण अर्थ-ज्ञान नहीं करा सकता, क्योंकि तब उस शब्द के संयोजक प्रत्येक वर्ण से पृथक्-पृथक् अर्थ ग्रहण किया जावेगा।[१] नागेश भट्ट ने शब्द के विषय में इस प्रकार कहा है कि 'गो' व्यक्ति को देखकर कोई जिज्ञासु उसके वाचक शब्द के विषय में प्रश्न करता है कि यह क्या है, तब 'गो' व्यक्ति से सम्बन्धित उत्तर देते हुये, उस व्यक्ति के वर्णादिक्य भी उस व्यक्ति में तादात्म्य होने के कारण, वह वाच्य और वाचक का अभेदग्रहण करता है।[२]

अतः नागेश ने वाक्य तथा वाचक में स्थित 'तादात्म्य' को शब्दार्थ की शक्ति स्वीकार किया है। उन्होंने उदाहरण द्वारा अपने मन्तव्य को स्पष्ट किया है—"रामेति द्व्यक्षरं नाम चापभङ्गः पिनाकिनः, इत्यादौ शब्दार्थयोरपि अभेदेन व्यवहारः।"

उपर्युक्त वाक्य में राम-एक विभक्तिरहित प्रातिपदिक है।अतएव 'रामेति में गुणसन्धि से एकार हुआ है। अन्यथा 'रामः इति' में लोपः शाकल्यस्य' से लोप करने पर, उस लोप के असिद्ध होने के कारण सन्धि नहीं होती तब रूप बनता है—'राम इति'। किन्तु यहां राम में विभक्ति प्रयोग न करके नाम और तद्वाच्य शिवधनुर्भङ्गकारी राम में अभेद दर्शाया गया है। अतः शब्दार्थ में अभेद स्वीकार किया गया है।

भट्टोजिदीक्षित शब्द के अर्थप्रत्यमान में द्रव्य, गुण, जाति और क्रिया चारों का ग्रहण करते हैं। शब्द बोधक होने के साथ-साथ बोध्य भी हैं। उनका कथन इस प्रकार उद्धृत है—

"तदभिन्नाभिन्नस्य तदभेदात्याशयेन 'अथ गौरित्यत्र कः शब्दः' इति प्रघट्टके द्रव्यगुणकर्मसामान्यैः सह शब्दस्याभेदो भाष्यकृद्भिराशङ्क्य निराकृतः।"[३]

---

१. महाभाष्य १.१.१. पस्पशाह्निक 'प्रदीप'

२. वही-'उद्योत'

३. शब्दकौस्तुभ १.१.१. पृ. ४

कैयट ने शब्दग्रहण के सन्दर्भ में शब्द तथा द्रव्य को भिन्न बतलाया है क्योंकि दोनों भिन्न-भिन्न इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किये जाते हैं—शब्द श्रावण प्रत्यक्ष का विषय है तथा द्रव्य चाक्षुष प्रत्यक्ष का विषय है—

"भिन्नैन्द्रियग्राह्यत्वात् न द्रव्यं शब्द इति प्रतीतम्, अपितु द्रव्यमिति।"[१]

अत: वाच्य द्रव्य तथा वाचक शब्द में जो अभेद प्रतिभासित होता है वह औपचारिक है।

उपर्युक्त परवर्ती आचार्यों ने अपने पूर्वाचार्यों के ही शब्दविषयक विचारों को स्वीकार किया है। व्याख्याकारों ने कहीं-कहीं अपने मत प्रस्तुत किये हैं, किन्तु वे भी आचार्यों के मतों से पृथक् नहीं है। आचार्य परम्परा में परवर्ती काल में व्याकरण-दर्शन के प्रस्तुत तत्त्व का और अधिक विकास तथा विस्तार प्राप्त हुआ।

विभिन्न दर्शनों में शब्दतत्त्व

महाभाष्यकार ने जिस तत्त्व को दार्शनिक रूप दिया, उसको वाक्यपदीयकार तथा अन्य व्याकरणाचार्यों ने अपने सुविशद् विवेचन के द्वारा व्याकरण-दर्शन की ही मान्यता दे दी। व्याकरण तत्त्वों पर दार्शनिक दृष्टि से वैयाकरणों ने तो विचार-विमर्श किया ही है, भिन्न-भिन्न दर्शन-सम्प्रदायों के आचार्यों के विचार भी उन तत्त्वों पर हमें उपलब्ध होते हैं, जिसकी एक झलक वाक्यपदीय में प्राप्त होती है, जहां वाक्यपदीयकार ने व्याकरण-चिन्तन प्रस्तुत करते हुये अन्य दार्शनिकों के सिद्धान्तों की भी विवेचना की है। वाक्यपदीयकार ने मीमांसा, न्याय आदि वैदिक दर्शनों तथा बौद्ध, आदि अवैदिक दर्शनों की मान्यताओं का स्थान-स्थान पर उल्लेख किया है।

अन्य दर्शनों के अनुसार 'शब्द क्या है', 'उसकी क्या स्थिति है,' उसका स्वरूप कैसा है—आदि प्रश्नों पर विभिन्न आचार्यों के मतों का अवलोकन करना समीचीन होगा।

शिक्षाकारों का मत

शिक्षाकार व प्रातिशाख्यकार वायु को शब्द मानते हैं, अर्थात् उनके मत में वायु ही शब्द-स्वरूप है। वक्ता जब शब्द के प्रयोग की इच्छा

१. महाभाष्य १.१.१. पस्पशाह्निक 'प्रदीप'

करता है तब इच्छानुकूल प्रयत्न से प्राणवायु में क्रिया उत्पन्न होती है। कण्ठ-तालु आदि स्थलों में जब शब्दजनक संयोग का आश्रय होता है, अर्थात् जब प्राण-वायु कण्ठ तालु आदि स्थलों में घर्षण को प्राप्त होता है, तो क ख आदि वर्ण उत्पन्न होते हैं। आचार्य पाणिनि शब्द को वायु द्वारा उद्भूत मानते हैं। उन्होंने अपने शिक्षाग्रन्थ में इस प्रकार उल्लेख किया है कि आत्मा बुद्धि के द्वारा अर्थों को ग्रहण कर, उनके (अर्थों के) उच्चारण की विवक्षा से मन को प्रेरित करती है, मन इच्छा से प्रेरित होकर कायाग्नि को प्रज्वलित करता है और वह तेज वायु को प्रेरित करता है, ततः शब्दोच्चारण होता है—

"आत्मा बुद्ध्या समेत्यर्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया,
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्।[१]

भतृहरि के आपिशलीय शिक्षा में एक उद्धरण प्राप्त होता है जिसका अभिप्राय इसी प्रकार का है, अर्थात् वायु नाभिप्रदेश से प्रयत्न द्वारा ऊर्ध्व दिशा की ओर प्रेरित होकर, उर आदि स्थानों में होता हुआ बाहर प्रकट होता है, तब शब्दनिष्पत्ति होती है,

"नाभिप्रदेशात् प्रयत्नप्रेरितो वायुरूर्ध्वमाक्रामन्नुरस्यादीनां स्थानानामन्यतमं स्थानमभिहन्ति, ततः शब्दनिष्पन्तिः।" [२]

वाक्यपदीयकार पुनः स्पष्ट करते हैं कि जिस प्रकार वायु-परमाणु व्यजन के द्वारा ग्रहण किये जाते हैं, उसी प्रकार शब्द परमाणु करणाभिघात अर्थात् मुख में उत्पन्न संघर्षण से तथा कर्णपटल के साथ संघर्षण से अपने स्वरूप को ग्रहण करते हैं। वाक्यपदीयकार ने इस प्रकार उल्लेख किया है—

"अजस्त्रवृत्तिर्यः शब्दः सूक्ष्मत्वान्नोपलभ्यते
वचनाद्वायुरिव स स्वनिमित्तात् प्रचीयते।" [३]

प्रातिशाख्यों में शब्द के विषय में अनेक उद्धरण उपलब्ध होते हैं। आचार्यों ने शब्द को वायु द्वारा प्रेरित ही माना है, प्राण-वायु कण्ठ के

---

१. पाणिनीय शिक्षा-६
२. वाक्यपदीय १.१०७
३. वहीं १०८

विवृत होने तथा संवृत्त होने पर श्वास की सहायता से नाद को ग्रहण कर वाक् रूप में प्रकट होता है। ऋक् प्रातिशाख्य का एक उद्धरण द्रष्टव्य है—

"वायुः प्राणः कोष्ठ्यमनुप्रदानं कण्ठस्य खे विवृते संवृते च।
आपद्यते श्वासतां नादतां च वक्त्रीहायाम्।" [१]

महाभाष्यकार ने ध्वनि को शब्द माना है—'तस्माद् ध्वनिः शब्दः' [२] तथा एक अन्य उद्धरण में आचार्य पाणिनि ने ध्वनि प्रक्रिया के सन्दर्भ में भी अभिव्यक्त किया है, उद्धरण द्रष्टव्य है—

"आकाशवायुप्रभवः शरीरात् समुच्चरन् वक्त्रमुपैति नादः।
स्थानान्तरेषु प्रविभज्यमानो वर्णत्वमागच्छति स शब्दः।"[३]

अभिप्राय यह है कि शरीर में वायु उत्पन्न हुआ मुख में नाद उत्पन्न करता है तथा भिन्न-भिन्न स्थानों में विभक्त हुआ जो वर्णत्व को प्राप्त करता है, वह शब्द है। अर्थात् वायु द्वारा जो कम्पन मुख में होता है उससे जो ध्वनि प्रस्फुटित होती है, वह वर्णरूप धारण कर लेती है।

भिन्न-भिन्न स्थानों से तात्पर्य उर, कण्ठ आदि से है, आपिशलि आचार्य ने भी भिन्न-भिन्न स्थानों का उल्लेख किया है। आचार्य पाणिनि की परिभाषा से यह तथ्य समक्ष आता है कि उन्होंने किसी भी ध्वनि को शब्द नहीं मान लिया है, अपितु उनका अभिप्राय यह है कि जो ध्वनि वर्णरूप में है वही शब्द है अर्थात् सार्थक ध्वनि ही शब्द कहलाएगी।

डॉ० रामशरण शास्त्री ने स्पष्ट किया है कि जिस प्रकार मेघ में स्थित जल प्रतिकूल वायु के संघात से, जल से विद्युत में परिणत हो जाता है, उसी प्रकार वायु भी कण्ठ, तालु आदि स्थानों के संघात से शब्द रूप को ग्रहण करता है।

"यथा—मेघस्थमुदकं प्रतिकूलवातसहकृतेनोदकान्तरेणाभिहतं विद्युद्रूपतया परिणमति, तथा वायुरपि कण्ठताल्वादिः स्थानैरभिहन्यमानः शब्दरूपं गृहणाति।"[४]

---

१. ऋक्प्रातिशाख्य १३.१
२. महाभाष्य १.१.१. पस्पशाह्निक
३. पाणिनीय शिक्षा १.
४. पाणिनीयव्याकरणशास्त्रे वैषेषिकतत्वमीमांसा, पृ० १७४

तात्पर्य यह है कि शिक्षाकारों ने प्राणवायु द्वारा भिन्न-भिन्न प्रयत्नों के पश्चात् उद्भूत नाद अथवा ध्वनि को शब्द माना है जो वर्णरूप में ग्राह्य होती है।

जैन मत

जैन दर्शन के अनुसार पुद्गल शब्द है और पुद्गल परमाणु के नाम से अभिहित किया जाता है, निम्नांकित उद्धरण उल्लेखनीय है—

"शब्दः पुद्गलपर्यायः स्कन्धः छायाऽऽतपादिवत्।"[१]

वाक्यपदीयकार ने परमाणु के विषय में स्पष्ट किया है—

"अणवः सर्वशक्तित्वाद् भेदसंसर्गवृत्तयः,
छायाऽऽतपतमःशब्दभावेन परिणामिनः।
स्वशक्तौ व्यज्यमानायां प्रयत्नेन समीरिताः
अभ्राणीव प्रचीयन्ते शब्दाख्याः परमाणवः।'[२]

परमाणु सर्वशक्तिमान् होने के कारण, भेद-संसर्गवृत्ति से युक्त होने के कारण छाया, आपत आदि के रूप में परिणमित होते हैं और उसी प्रकार शब्द परिणाम के रूप में भी उत्पन्न होते हैं। इन परमाणुओं में छाया-आपत आदि के भाव को ग्रहण करने की सामर्थ्य होती है, अतः ये सर्वशक्तिमान् होते हैं। वाक्यपदीयकार ने परमाणु के विषय में स्पष्ट किया है—ये परमाणु एक से भाव होने पर परस्पर संयुक्त होकर छायादि उत्पन्न करते हैं तथा पृथक् होकर अन्य भाव को ग्रहण कर लेते हैं, उसी प्रकार ये शब्दरूप में भी प्रकट होते हैं। शब्दत्वापत्तियुक्त शक्तिसम्पन्न परमाणु आन्तर-प्रयत्न से प्रेरित हुये शब्दत्व को प्राप्त होते हैं।जिस प्रकार वायु के द्वारा प्रेरित बादल परस्पर संयुक्त हो जाते हैं, उसी प्रकार शब्द परमाणु भी परस्पर संयुक्त होकर, अन्तः प्रयत्न से प्रेरित हुये शब्दत्व को प्राप्त होते हैं। डॉ० गौरीनाथ शास्त्री ने प्रस्तुत सन्दर्भ में अपना मन्तव्य इस प्रकार दिया है—

---

१. सिद्धिविनिश्चयटीका, ९.२

२. वाक्यपदीय १.१०७, (११०, १११) वृत्ति

"The Jains believe that words are material substances made up of atoms which are distinct from other material atoms in nature"[1]

प्रो० हिरियन्ना का विचार है कि ध्वनि परमाणु (पुद्गुल) का परिवर्तित रूप है।

"Sound also is an attribute of matter, or more correctly, a modification of it, but only in its composite and not in its atomic form".[2]

ध्वनि परमाणु का संघात रूप है, पृथक् परमाणु के रूप में ध्वनि का ग्रहण नहीं किया जा सकता।

जैन दर्शन में पुद्गल का सर्वाधिक महत्त्व है। उनके अनुसार जगत् का प्रत्येक पदार्थ पुद्गल का ही परिणाम है। ये छोटे-छोटे परमाणु शक्तिसम्पन्न हैं, इसीलिये भाव अथवा स्थिति विशेष की शक्ति के सर्वोपरि होने पर उस पदार्थ-विशेष अथवा भावविशेष को उत्पन्न करते हैं तथा अन्य भाव की शक्ति से युक्त होने पर उस अन्य भाव को उत्पन्न करते हैं।

बौद्ध मत

बौद्ध दर्शनाचार्य ने 'अपोहवाद' की स्थापना की। 'अपोह' का तात्पर्य है—'अतद्व्यावृत्ति'—अन्य की निवृत्ति। अतः किसी भी वस्तु की सत्ता को स्वीकार करने से पूर्व बौद्ध आचार्य तद्भिन्न की सत्ता को उस वस्तु में नकारते हैं—यथा 'गो' शब्द स्वयं में अन्यों की निवृत्ति लिये हुये है।शान्त रक्षित उल्लेख करते हैं कि जब दिङ्नाग शब्द की सत्ता को स्वीकार नहीं करते, उसका आधार यह है कि तार्किक पक्ष में शब्द का उसकी वास्तविक सत्ता से कोई सम्बन्ध नहीं। अर्थात् सामान्यादि से पृथक् होने के कारण शब्द का विकल्प अर्थ होगा—

"असम्भवो विधेर्, उक्तस् सामान्यादेरसम्भवात्
शब्दानाञ्च विकल्पानां वस्तुतो विषयत्वतः।"[३]

1. A study in the Dialetics of Sphota, p.15
2. The Essentials of Indian Philosophy, p. 62
३. तत्वसङ्ग्रह ५.१०९.१

शब्दज्ञान में उस शब्द का विपरीत तत्त्व सामान्य तत्त्व है। 'अपोह' अतद्व्यावृत्ति का ग्रहण कराता है। 'गो' का उच्चारण करने पर समस्त गो-भिन्न पदार्थों अश्व आदि की व्यावृत्ति हो जाती है। मम्मट ने शब्द से संकेतितार्थग्रहण के सन्दर्भ में बौद्धों का मत भी प्रस्तुत किया है—

"तद्वान् अपोहो वा शब्दार्थः कैश्चिदुक्त इति।"[१]

नैयायिक जयन्तभट्ट के अपोहवाद के सन्दर्भ में विचार हैं कि शब्द के उत्पन्न होने पर उसके विजातीय की व्यावृत्ति होती है, सजातीय पदार्थ की व्यावृत्ति नहीं होती है—

तथा च गौरिति शब्दादुत्पद्यमानो विजातीयव्यावृत्ताकारोल्लेखीव विकल्प, संवेद्यते न सजातीयव्यावृत्तोल्लेखी तुल्यविषयाश्च विकल्पैः शब्दा इत्यन्यापोहविषया उच्यन्ते।"[२]

अतद्व्यावृत्ति रूप अपोहवाद असत् को स्वीकारता है। बौद्धाचार्यों के मतानुसार प्रत्येक पदार्थ की स्थिति क्षणिक है ऐसी स्थिति में शब्द की सत्ता अर्थात् भाव को स्वीकार नहीं किया जा सकता। शब्द की भावात्मक स्थिति तो भ्रान्तिवश प्रतीत होती है। डॉ० सुखतनकर के शब्दों में—

"Since everything is क्षणिक to the Buddhist, he cannot admit anything like a positive उपाधि which as abiding in an object will have to last for more than a moment; the object requiring a क्षण and the उपाधि another, the two being different.[३]

बौद्ध दार्शनिक शब्द की स्थिति तो स्वीकार करते हैं, अर्थात् उनके मत में शब्द का अर्थ होता है किन्तु उस अर्थ में मूल में अन्यापोह होता है। तात्पर्य यह है कि उस शब्द का अर्थ ग्रहण करते समय उस अर्थ से अतिरिक्त पदार्थ को नकारना होगा। प्रो० कुञ्जुन्हिराजा की मान्यता है कि विकल्प के मूल में अन्यापोह होता है तभी शब्दार्थ ग्रहण होता है—

---

१. काव्यप्रकाश २८
२. न्यायमञ्जरी ४, बौद्धाभिमतापोहनिरुपणम्, पृ० २८०
3. Kāvya-Prakāśa, 11.8, Notes

" The meaning of a word is a conceptual image (विकल्प) whose essence is the negation of all its counter-correlate(अन्योपाह)."[१]

मीमांसा मत

आचार्य जैमिनि तथा शबरस्वामी दोनों ही शब्द को अर्थप्रत्यात्मक स्वीकार करते हैं, अर्थात् शब्द का मुख्य उद्देश्य ज्ञान अथवा विचार प्रदान करना है—

"शब्दैस्त्वर्थविधित्वात्"[२]

'शब्दानामर्थविधानं कार्यम्"[३]

शब्द के अर्थ-प्रत्यायन में प्रत्येक वर्ण का योग होता है। अत: मीमांसक वर्ण को ही शब्द की संज्ञा देते हैं। यथा 'गौ:' शब्द का उच्चारण करने पर ग्, औ तथा विसर्ग तीनों के योग से गौ: शब्द व्युत्पन्न हुआ जो गो अर्थ-वस्तु का प्रत्यायन कराता है, 'गौ:' शब्द में से एक भी वर्ण के न होने पर अर्थज्ञान नहीं हो सकता। शबरस्वामी भगवान् उपवर्ष का उद्धरण प्रस्तुत करते हैं—

"अथ गौरित्यत्र क: शब्द: ? गकारौकारविसर्जनीया इति भगवानुपवर्ष: ।" [४]

उनका मत है कि पूर्व वर्ण के उच्चारण से उत्पन्न संस्कार के साथ अन्त्य वर्ण के उच्चारण तक उत्पन्न हुये संस्कार उस शब्द विशेष का बोध कराने में सहायक होते हैं।

"पूर्ववर्णजनित-संस्कारसहितोऽन्त्यो वर्ण: प्रत्यायक इत्यदोष: ।" [५]

शब्द के उच्चारण में शब्द का प्रत्येक वर्ण अपना बोध कराने के अतिरिक्त उस तत्त्व का भी बोध कराता है जिस तत्त्व के लिये वह शब्द-विशेष उच्चरित किया गया है।

---

१. Indain Theories of Meaning, p.78.
२. मीमांसा सूत्र ७.२.१.
३. शबरभाष्य
४. मीमांसादर्शन १, पृ० ४५
५. शाबरभाष्य १, पृ० ४६

मीमांसकों की शब्द-प्रक्रिया व्याकरणाचार्यों के 'स्फोटवाद' से बहुत अधिक साम्य रखती है, उनके मत में स्फोट का ग्रहण भी प्रत्येक उच्चरित वर्ण के संग्रहीत संस्कार के कारण होता है जो श्रोता के मस्तिष्क में रहता है। मीमांसाचार्य वर्ण तथा अर्थज्ञान के मध्य स्फोट जैसे किसी तत्त्व को नहीं स्वीकारते। उनके मत में वर्ण ही नित्य है। प्रो० अय्यर के शब्दों में उनके इसी विचार की उद्घोषणा होती है --

"The Mimamsakas look upon the phonemes as eternal and all pervasive."[१]

आचार्य शबरस्वामी ने शिक्षाकारों का शब्द-विषयक मत प्रस्तुत किया कि शब्द वायु-प्रभूत होते हैं, अर्थात् प्राणवायु मुख-ताल्वादि अङ्गों से टकराकर ध्वनि के रूप में शब्द का स्वरूपग्रहण कर लेती है। मीमांसा दर्शनावलम्बियों के अनुसार वर्ण शब्द के अर्थ प्रत्यायन में पूर्णतया योग देते हैं। अत: वर्ण शब्द है। शब्द का उच्चारित प्रत्येक वर्ण अपने संस्कार के द्वारा उस अर्थ को ग्रहण कराने में सहायक होता है।

सांख्य-योग मत

सांख्य दर्शन के अनुसार शब्द प्रकृति से उद्भुत होने के कारण सत्त्व, रजस् तथा तमस् तीनों गुणों से युक्त है। त्रिगुणात्मिका प्रकृति का विकार महत्तत्व है जोकि बुद्धि है। महत् का विकार अहंकार है तथा अहंकार से सत्त्वप्रधान एकादश इन्द्रियां तथा पञ्चतन्मात्राओं की उत्पत्ति होती है। इन तन्मात्राओं में एक शब्दतन्मात्र है जिससे स्थूल आकाश उद्भूत होता है—

'शब्दतन्मात्रादिकस्मादाकाशम्।"[२]

घण्टा आदि द्रव्यों में तथा वाक् इन्द्रिय में गन्धादि के समान शब्द स्थिर रहता है तथा भेरी व वायु आदि के अभिघात से वही शब्द अभिव्यक्त होता है। वाचस्पति मिश्र ने अपनी टीका में वात्स्यायन के मत को स्वीकारा

1. Sphoṭasidhi, p.5
२. सांख्तत्व कौमुदी, ३८

है कि वीणादि में शब्दादि समुदाय रुप में स्थित रहता है और इसी रूप में अभिव्यञ्जित होता है।

"सांख्यानां रूपरसगन्धस्पर्शशब्दसमुदायो वीणावेणुशंखादि द्रव्यम्। तत्र समासे समुदाये स्थिते एव व्यज्यते इति दर्शनम्।"[१]

योगसूत्रकार ने स्फोट को ही शब्द माना है। उनके अनुसार श्रोत्रग्राह्य वर्ण से अभिव्यञ्जित स्फोट शब्द ही अर्थों का वाचक है, अर्थात् शब्दार्थ-ज्ञान स्फोट के ही द्वारा होता है—

"शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात् संस्कारः तत्प्रविभागसंयमात् सर्वभूतरुतज्ञानम्।"[२]

मणिप्रभाटीका में एक बार में ही शब्द की समस्त विशेषताओं का वर्णन कर दिया गया है—

"वर्णातिरिक्तो वर्णैर्व्यङ्ग्यो नित्यो निर्भागः शब्दः स्फोट।"[३]

स्फोट वर्ण नहीं है किन्तु वर्णों के द्वारा व्यङ्ग्य है वह नित्य है अविभाज्य है। स्पष्ट है कि योगसूत्रकार स्फोट को ही शब्द मानते हैं जो वर्णों के द्वारा अभिव्यक्त होता है। स्फोट की नित्यता का उद्घोष व्याख्या दर्शन में भी किया गया है।

न्याय-वैशेषिक मत

नैयायिकों ने शब्द को अनित्य माना है क्योंकि वह बाह्येन्द्रिय-ग्राह्य है तथा दो क्षण स्थित रह कर तृतीय क्षण में उसका ध्वंस हो जाता है, वह आकाश मात्र की वृत्ति है—

"शब्दस्त्वाकाशमात्रवृत्तिः बाह्यैकेन्द्रियग्राह्यः द्विक्षणावस्थायी तृतीय क्षणे नश्यति च। अत एवानित्यः इति नैयायिकराद्धान्तः।[४]

---

१. न्यायवार्तिक, पृ० ६३७, 'तात्पर्यटीका' 'गन्धादि-सहवृत्तिर्द्रव्येषु सन्निविष्टो गन्धादिवदवस्थितोऽभिव्यक्तिधर्मक इत्यपरे।" न्यायभाष्य २.२.१३)
२. योगसूत्र ३.१७
३. वही २७
४. सिद्धान्तचन्द्रोदय-१, पृ० १८

वैशेषिकाचार्य ने शब्द का ग्रहण श्रोत्र के द्वारा माना है, अतः शब्द 'श्रावण' है श्रोत्र के द्वारा जो अर्थ ग्रहण किया जाता है वह शब्द है—

'श्रोत्रग्रहणो योऽर्थः स शब्दः।'[१]

श्रोत्र के द्वारा ग्राह्य शब्द ही ध्वनि कहलाता है, तथा इसी को 'वैखरी' वाणी के नाम से अभिहित किया गया है। जगत के समस्त क्रिया-कलाप इसी वैखरी वाणी में ही सम्पन्न होते हैं, क्योंकि यही वाणी वक्ता तथा श्रोतां के मध्य मुखरित होती है।

नैयायिकों ने शब्द से अर्थज्ञान ईश्वर संकेत द्वारा ग्राह्य माना है, अर्थात् शब्द से अर्थज्ञान का विनिश्चय मनुष्यकृत नहीं है अपितु ईश्वरकृत है—

"अस्मात्पदात् अयमर्थो बोद्धव्यः इतीश्वरसंकेतश्शक्तिः।"[२]

किन्तु नव्यनैयायिकों का मत है कि ईश्वरेच्छा शब्दज्ञान में कारण नहीं है, मानवेच्छा ही अर्थज्ञान में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। वे केवल 'इच्छा' को ही संकेतितार्थ का कारण मानते हैं।[३] शब्द वर्ण-ध्वनिरूप है क्योंकि वह संयोग-विभाग से उत्पन्न होती है। अतः शब्द को अनित्य वर्ण-ध्वनि के रूप में स्वीकार किया गया है।

मण्डन मिश्र शब्द का लक्षण इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं कि अर्थज्ञान की उत्पत्ति के कारण को शब्द कहते हैं (अनर्थक ध्वनि आदि को शब्द की संज्ञा नहीं देते) —

"अर्थावसायप्रसवनिमित्तं शब्द इष्यते।"[४]

उनके अनुसार अर्थप्रत्यायक शब्द ध्वनि से परे है, जिसको उन्होंने स्फोट रूप से भी स्वीकार किया है शब्द की प्रत्येक ध्वनि स्फोट को, सम्पूर्ण स्फोट को अभिव्यंजित कर देती है—प्रथम ध्वनि कुछ अस्पष्ट रूप में, द्वितीय ध्वनि अधिक स्पष्ट रूप में तथा अन्तिम ध्वनि शब्द को पूर्ण रूप से स्पष्ट कर देती है। शब्द के अर्थ-प्रत्यायन में वर्णों (ध्वनियों) का

---

१. वैशेषिकसूत्र २.२.२१
२. तर्कसंग्रह, 'शब्द', पृ० ८४
३. सिद्धान्तमुक्तवली, पृ० २६६
४. स्फोटसिद्धि, ३

समूह रूप में एकत्र होना पर्याप्त नहीं है। वक्ता द्वारा उच्चरित ध्वनियां उस स्फोट को व्यंजित करती हैं जो वक्ता तथा श्रोता के मध्य स्थित रहता है।[१]

मण्डन मिश्र के विचार में अर्थज्ञान में ध्वनियों के क्रमिक विकास का महत्त्व है, उदाहरण के रूप में जिस प्रकार एक स्वर्णकार किसी बहुमूल्य रत्न का मूल्य बार-बार परीक्षण करके आंकता है तथा प्रत्येक बार उसे उस रत्न के विषय में अधिक पुष्ट ज्ञान होता है, उसी प्रकार ध्वनियों के क्रमिक विकास से अर्थज्ञान स्पष्ट से स्पष्टतर होता जाता है—[२] इससे स्पष्ट होता है कि मण्डन मिश्र ने वाक्यपदीयकार के समान ही शब्द-प्रक्रिया तथा स्फोट निरूपण में संस्कार व क्रमिक विकास को मान्यता दी है।

आधुनिक भाषाविदों के मत में शब्द

शब्द क्या है, तथा इसका अर्थ क्या है-इस सन्दर्भ में अनेकानेक परम्परागत दर्शनसम्प्रदायों तथा विद्वानों के स्थापित किये गये मतों के अतिरिक्त, आधुनिक पृष्ठभूमि में 'शब्द को किस प्रकार स्वीकार किया गया है' यह बात ध्यान देने योग्य है। आधुनिक भाषा वैज्ञानिक शब्द को भाषा का एक तत्त्व स्वीकार करते हैं। परवर्ती साहित्यकारों तथा भाषाविदों ने अनेक व्याकरण सम्बन्धी तत्त्वों का अध्ययन वैज्ञानिक दृष्टि से करके 'भाषाविज्ञान' विषय की पृथक् से स्थापना कर दी है। शब्द का अध्ययन भी उन्होंने व्याकरण व दार्शनिक दृष्टि से ही किया है। New Encyclopaedia of Philosophy में शब्द की परिभाषा यों दी गयी है—'शब्द भाषा का एक तत्त्व है, स्वरों से युक्त ध्वनिसमूह है तथा एक अर्थ है'—

" Word - as an element of the language : a unity of an articlculated (consisting of phonemes) sound and a meaning."[३]

शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में जितने मतभेद प्राचीन विद्वानों में थे उतने ही पृथक् विचार आधुनिक विद्वानों में हैं। शब्द का अर्थ कहाँ तथा किसको

१. Sphoṭasiddhi, p. 10
२. स्फोटसिद्धि, कारिका १८ पृ० ४३
३. New Encyclopaedia of Philosophy, p. 464

माना जाय, इस सन्दर्भ में भिन्न-भिन्न धारणायें सम्मुख आती हैं।ओंग्डेन तथा रिचर्ड्स ने प्रस्तुत सन्दर्भ में प्रो० स० शुस्तंर के विचारों को इस प्रकार उद्धृत किया है—

"Scientific controversies constantly resolve themselves into differences about the meaning of words." [1]

अत: यह स्पष्ट होता है कि शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में अनेक भाषा-वैज्ञानिक मतभेद भी रहे हैं।ये भाषावैज्ञानिकद्वय शब्द की परिभाषा इस प्रकार करते हैं कि शब्द स्वयं में कोई अर्थ नहीं रखते, जब वक्ता उनका प्रयोग करता है तभी वे किसी अर्थ का संकेत करते हैं—"Words, as everyone now knows, mean nothing by themselves, although the belief that they did, ...was once equally universal. It is only when a thinker makes use of them that they stand for anything, or in one sense, have meaning. They are instruments."[2]

जिस प्रकार प्राचीन आचार्यों ने स्वीकार किया है कि शब्द अर्थवान् हैं—वर्ण सार्थक हैं, आधुनिक विद्वान् उससे भिन्न मत रखते हैं। उनकी मान्यता यह है कि जब वक्ता किसी अर्थ के सन्दर्भ में किसी शब्द का प्रयोग करता है, तभी शब्द उस अर्थ को ज्ञापित करते हैं, अन्यथा वे स्वयं में निरर्थक हैं।प्रसिद्ध भाषाविद् डॉ० के० एन० चटर्जी भी शब्द को सार्थक तभी मानते हैं जब वक्ता उसमें अपना अभिप्राय सन्निहित करता है।उनके अनुसार शब्द स्वयं में अपना कोई अर्थ पृथक् रूप से अभिव्यञ्जति करने में अशक्त हैं।[३]

किन्तु श्री पिल्सबरी के अनुसार अर्थ ही सब कुछ है, देखते हुये भी हम अर्थ को देखते हैं, सोचते हुये भी हम अर्थ को सोचते हैं, क्रिया भी अर्थ के सन्दर्भ में करते हैं। प्रत्यक्षत: हम केवल अर्थ के प्रति ही सदैव सचेत रहते हैं—"Meaning is practically everything. We

१. Meaning of Meaning, Ch. I (Quoation)
2. Meaning 0f Meaning, pp.9-10.
3. Word and Its Meaning,, p.34)

always see the meaning as we look, think , act in terms of meaning when we act.

Apparently we are never conscious of anything but meaning."[1]

उपर्युक्त विद्वान् स्फोट को मान्यता देते हैं जो सदैव बुद्धि में प्रत्यय के रूप में अवस्थित रहता है। अत: शब्द से वह अर्थ मान्य है जिसका उच्चारण प्रत्यय के साथ होता है और जो स्फोट रूप में सदैव बुद्धि में रहता है। पिल्सबरी बुद्धि में अवस्थित जिस प्रत्यय की चर्चा कर रहे हैं व्याकरणदर्शन में उसी को स्फोट नाम से अभिहित किया गया है।

भारतीय विद्वान् डॉ० वेलुरि सुब्बा राव भी शब्दों में अर्थ-प्रत्यायक शक्ति स्वीकार करते हैं। उसी शक्ति के द्वारा ये शब्द अपना निश्चित अर्थ अभिव्यंक्त करने में समर्थ होते हैं :—

"We also know that words have got potentially and through that they are capable of explaining definite meanings."[2]

डॉ० हरिसिंह सेंगर ने भी शब्द को बौद्धिक सत्ता स्वीकार किया है।उच्चार्य और श्रव्य से भिन्न बुद्धिगत शब्द की सत्ता होती है और वही आन्तरिक स्फोट शब्द अर्थ का बोधक होता है। इस प्रकार शब्द और अर्थ दोनों बुद्धि की प्रवृत्तियां हैं।[३]

श्री पारकिन्सन शब्द का अर्थ स्फोट के भौतिक स्वरूप के रूप में ग्रहण करते हैं। उनके मत में शब्द का अर्थ वह वस्तु है जिसकी उपस्थिति अथवा अनुपस्थिति के आधार पर शब्द का अर्थ निर्धारित होता है। शब्द का अर्थ स्फोट रूप में रहता है, यदि किसी शब्द का प्रत्यय नहीं हो रहा है तो इसका तात्पर्य यह हुआ कि उस शब्द का अर्थ उस स्फोटात्मक

१. Meaning and Image, p.156.
2. The Philosophy of a Sentence and Its Parts, Ch. I, p.1.
३. भारतीय अर्थविज्ञान, पृ० २३२
४. Theory of Meaning, p.3, Introduction.

पदार्थ के रूप में नहीं ग्रहण हो सकता। भौतिक रूप में जिन शब्दों से सम्बन्धित पदार्थ दृष्टिगत होते हैं उन्हीं शब्दों के अर्थ ग्रहण होंगे। इसका अर्थ यह हुआ कि शशविषाण तथा खपुष्पादि पदार्थों का चूंकि चक्षुग्रहण नहीं होता अथवा वे भौतिक रूप में उपस्थित नहीं होते अतः इन शब्दों के अर्थ का ग्रहण नहीं होगा। विषय विवादास्पद है क्योंकि लोक में अनुभव यह किया जाता है कि इन शब्दों का उच्चारण करने पर श्रोता इन शब्दों से भी अर्थग्रहण कर ही लेता है।

आचार्य पतञ्जलि ने शब्द का जो प्रत्यायक स्वरूप स्वीकार किया है वह आधुनिक विद्वानों के अनुसार बुद्धिगत सत्ता ही है। डॉ० एस० के० वर्मा के शब्दों में—

"शब्द उस ध्वनिसमूह को नहीं कहते जिसके संयोग से तथाकथित शब्दरूप बनता है बल्कि शब्द वह है, जिससे किसी अर्थ का विनिश्चय या प्राप्ति होती हो।' वे पुनः स्पष्ट करते हैं—जो भी ध्वनि-समूह किसी भी अर्थ-सम्प्रत्यय को देने में समर्थ है, वह 'शब्द' कहलाने का अधिकारी है।"[१]

कोई भी सार्थक ध्वनि शब्द है शब्द विषयक इसी मान्यता को भारतीय व्याकरणदर्शन में स्वीकार किया है। महाभाष्यकार ने शब्द सम्बन्धी जो परिभाषायें प्रस्तुत की हैं, आधुनिक भाषाविदों की मान्यतायें भी उन्हीं पर आधारित हैं। शब्द-ग्रहण में प्रत्यय, ध्वनि, वाचिक प्रतीक आदि सभी का ग्रहण होता है। भाषा-विज्ञान के आधार पर अर्थग्रहण करने में ध्वनि-व्यवस्था (Phonology), रूपव्यवस्था (Morphology), वाक्य व्यवस्था (Syntax), अर्थव्यवस्था (Semantic System) आदि का भी योगदान रहता है।

(ख) पदार्थ जाति अथवा व्यक्ति

'शब्द' का विश्लेषण करने के पश्चात् महाभाष्यकार शब्दविषयक दूसरा प्रश्न प्रस्तुत करते हैं कि पद का अर्थ क्या लिया जाय—जाति अथवा व्यक्ति?

"किं पुनराकृतिः पदार्थः आहोस्विद्द्रव्यम्?"[२]

---

१. भाषातत्त्व और वाक्यपदीय, पृ० ११७

२. महाभाष्य १.१.१. पस्पशाहिनक

तात्पर्य यह है कि 'गो' आदि शब्दों के उच्चारण के उपरान्त श्रोता उस शब्द से गो 'जाति' अर्थ ग्रहण करेगा अथवा 'गो' 'व्यक्ति' अर्थ ग्रहण करेगा? महाभाष्यकार दोनों ही वादों को मान्य स्वीकार करते हैं तथा स्पष्ट करते हैं कि पद का 'जाति' तथा व्यक्ति दोनों ही अर्थ लिये जाने चाहिये, जैसा कि आचार्यों ने स्वीकार किया है—'उभयमित्याह।'[१]

आचार्य पतञ्जलि से पूर्व व्यक्तिवादी तथा जातिवादी दोनों ही पक्षों ने अपने-अपने मत दृढ़ रूप में रखे, परिणामतः दो पृथक् विचारधारायें बन गयीं—एक जातिवादी विचारधारा तथा दूसरी व्यक्तिवादी विचारधारा। कैयट ने दोनों पक्षों के सम्बन्ध में अपने विचार इस प्रकार रखे हैं कि दोनों पक्षों में से एक मत को मानने से सम्पूर्ण शास्त्र की व्यवस्था नहीं हो सकती, अतः प्रश्न होता है कि शब्द का क्या अर्थ लें।[२] वार्त्तिककार कात्यायन ने इन दोनों वादों आकृति तथा व्यक्ति को, क्रमशः वाजप्यायन तथा व्याडि से सम्बन्धित माना है—

"आकृत्यभिधानाद्वैकं विभक्तौ वाजप्यायनः।
द्रव्याभिधानं व्याडिः।'[३]

इस विवाद का निराकरण महाभाष्यकार ने आचार्य पाणिनि के सूत्रों को उद्धृत करके दिया है कि चूंकि आचार्य ने दोनों ही प्रकार से (जाति तथा व्यक्ति को पदार्थ मानकर) सूत्र रचना की है, अतः दोनों ही अर्थ लेने चाहिये—

'उभयथा ह्याचार्येण सूत्राणि पठितानि।'[४]

आचार्य पाणिनि ने 'जाति' को पदार्थ मानकर सूत्र रचना की—

'जात्याख्यायामेकस्मिन्बहुवचनमन्यतरस्याम्'

अर्थात्, 'जाति' की विवक्षा में एक के लिए बहुवचन का प्रयोग किया जा सकता है तथा व्यक्ति को पदार्थ मानकर—**'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ'**

---

१. वही
२. वहीं १:१.१. पस्पशह्निक 'प्रदीप'
३. महाभाष्य १.२.३.६४ सूत्र
४. वही १.१.१. पस्पशाह्निक

समान रूप वाची तत्त्वों में एक शेष रह जाय। अतः स्पष्ट है कि अष्टाध्यायी के रचयिता दोनों ही पक्षों के समर्थक थे। प्रो० सुब्रह्मण्य शास्त्री ने इस अभिप्राय को इस प्रकार अभिव्यक्त किया है--जाति व्यक्ति के बिना सत्तामयी नहीं है तथा व्यक्ति जाति के बिना सत्तावान् नहीं, किन्तु ये विचारधारायें दो पृथक्-पृथक् हैं—प्रथम विचारधारा कि शब्द से जाति ज्ञान होता है तथा व्यक्ति का ज्ञान जाति के साथ ही होता है और द्वितीय विचारधारा कि शब्द से केवल व्यक्ति का बोध होता है, क्योंकि जाति व्यक्ति से पृथक् नहीं रह सकती। अतः जातिव्यक्ति पृथक् नहीं किये जा सकते हैं।'[१]

पुनः 'शब्दार्थसम्बन्ध' के नित्यत्व के प्रसंग में यह आक्षेप किया जाता है कि पदार्थ जाति लें अथवा व्यक्ति? जातिवादियों का सिद्धान्त है कि जाति नित्य है एवं सदैव विद्यमान रहती है, व्यक्ति अनित्य है। उनका मत है कि किसी द्रव्य के समाप्त हो जाने पर उस द्रव्य की जाति समाप्त नहीं हो जाती, अन्य व्यक्तियों में तो वह जाति विद्यमान रहती ही है—

"आकृतिर्हि नित्या, द्रव्यमनित्यम्। न क्वचिदुपरतेति कृत्वा सर्वत्रोपरता भवति, द्रव्यान्तरस्था तूपलभ्यते।"[२]

महाभाष्यकार ने 'आकृति' पद से जाति तथा आकार दोनों ही अर्थ ग्रहण किये हैं, किन्तु प्रस्तुत सन्दर्भ में उन्होंने जाति अर्थ ग्रहण किया है। महाभाष्यकार ने आकृति को द्रव्य के समान ही अनेक आत्मा माना है—अनेक आत्मा आकृतेर्द्रव्यस्य च।[३] श्रीकृष्ण शर्मा ने पतञ्जलि के मत को इस प्रकार अभिव्यक्ति किया है कि आकृति द्रव्य को पूर्णतया पृथक् करना सम्भव नहीं, एक भी व्यक्ति रहने पर आकृति उसमें रहेगी। यहाँ आकृति से उनका अभिप्राय जाति है।

"In order to prove the permanence of Ākrti Patañjali says that Ākrti as well as Dravya, is manifold, and that there is no total destruction of Ākrti even

---

१. Lectures on Patañjali's Mahābhāṣya, p. 49, Vol.I.
२. महाभाष्य १.१.१. पस्पशाह्निक
३. महाभाष्य १.२.३.६४ सूत्र

when it disappears from certain individuals. He also states many times that Akrti abides in each individual in its entirety."[१]

'व्यक्ति' को पदार्थ मानने वाले पक्षधरों की ओर से महाभाष्यकार बल देते हैं कि पद का अर्थ द्रव्य लेना चाहिये, आकृति नहीं क्योंकि द्रव्य वही रहता है, आकृति बनती व बदलती रहती है—

'आकृतिरन्या चान्या भवति, द्रव्यं पुनस्तदेव।'[२]

यहाँ निश्चित रूप से आकृति से उनका अभिप्राय आकार है।

महाभाष्यकार 'जाति' के समर्थन में अपना वक्तव्य देते हैं कि जातिवाचक शब्द से ही द्रव्य का बोध हो जाता है और जाति का भी—'जातिशब्देन हि द्रव्याभिधानम्—जाति शब्देन हि द्रव्यमभिधीयते, जातिरपि।'[३]

उपर्युक्त विचार को पुष्ट करने के लिये वे दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं कि गौओं के बहुत बड़े समूह के मध्य बैठे किसी चरवाहे से कोई व्यक्ति पूछता है कि 'किसी गाय को देख रहे हो?' अतः ज्ञात होता है कि वह किसी गो विशेष को लक्ष्य में रखकर प्रश्न कर रहा था। इससे स्पष्ट होता है कि जाति में व्यक्ति समाहित है। नागेश प्रस्तुत अभिप्राय को स्पष्ट करते हैं कि कभी जाति की प्रधानता रहती है तो कभी द्रव्य की। जिस समय जैसा अभीष्ट होता हो वही अर्थ ग्रहण किया जाता है।[४]

जाति में व्यक्ति तथा व्यक्ति में जाति अन्तर्निहित है—दोनों में सामञ्जस्य है। महाभाष्यकार ने आगे कहा भी है कि आकृति व द्रव्य, जाति व व्यक्ति कभी पृथक् नहीं किये जा सकते, दोनों अभिन्न हैं—

---

१. Ākṛti and Jāti in the Mahābhāṣya, pp. 60-61. Adyar Library Bulletin.

२ महाभाष्य १.२.३.६४

३. वही १.२.३.५८

४. 'तत्र कदाचिज्जातेः प्राधान्यम् कदाचिद्रव्यस्येति यथेष्टं प्रयोगं उपपद्यते।' महाभाष्य १.२.३.५८, प्रदीप'

'अव्यतिरेकाद् द्रव्याकृत्योः।'[१]

ऐसा नहीं है कि जाति को पदार्थ मानने वाले व्यक्ति को पदार्थ नहीं मानते और व्यक्ति को पदार्थ मानने वाले जाति को पदार्थ नहीं मानते। अन्तर केवल मुख्य-गौण का है—आकृति-प्रधान अर्थ में आकृति का ग्रहण होगा तथा व्यक्ति-प्रधान अर्थ में व्यक्ति का ग्रहण होगा। महाभाष्यकार का उद्धरण द्रष्टव्य है—

'न ह्याकृतिपदार्थकस्य द्रव्यं न पदार्थो, द्रव्यं पदार्थिकस्य वा आकृतिर्न पदार्थः। उभयोरुभयं पदार्थः। कस्यचित्तु किञ्चित् प्रधानभूतं किंचित् गुणभूतम्। आकृति पदार्थकस्याकृतिः प्रधानभूता, द्रव्यं गुणभूतम्। द्रव्यपदार्थिकस्य द्रव्यं प्रधानभूतमाकृतिर्गुणभूता।'[२]

कैयट उदाहरण द्वारा प्रस्तुत मन्तव्य को स्पष्ट करते हैं कि जिस प्रकार पचति पचतः में क्रिया-प्राधान्य होने पर भी साधन-संख्याकृत वचनभेद है, उसी प्रकार आकृति प्रधान होने पर भी द्रव्य-संख्याकृत भेद है, अतः दोनों ही मान्य हैं।[३]

आकृति-प्राधान्य के सन्दर्भ में महाभाष्यकार उद्धृत करते हैं कि आकृति एक है तथा इसका प्रत्यय शब्द के द्वारा होता है—

'एका आकृतिः सा चाभिधीयते।'[४]

उदाहरण के लिये एक ही गो शब्द समस्त गौओं का बोध करा देता है। अर्थात् सभी व्यक्तियों में एक सामान्य प्रकृति होती है, वह 'जाति' है।महाभाष्यकार ने जाति-व्यक्ति—दोनों ही वादों के शंका तथा समाधान विस्तार में प्रस्तुत किये हैं और तभी निर्णय प्रस्तुत किया है कि जाति तथा व्यक्ति में से किसको पदार्थ माना जाय।व्यक्तिवादियों के शंका करने पर कि यदि जाति को पदार्थ मानें तो फिर एक व्यक्ति एक ही समय में दो स्थानों पर कैसे दृष्टिगोचर हो सकता है, महाभाष्कर जातिवादियों की ओर

---

१. महाभाष्य २.१, ५१ सूत्र
२. वही १.२.३. ६४
३. तत्र यथा पचति पचतः पचन्तीति क्रियाप्राधान्येऽपि साधनसंख्याकृतो वचनभेदः एवमाकृतिप्राधान्येऽपि द्रव्यसंख्याकृत इत्यदोषः। महाभाष्य १.२.३.६४ सूत्र प्रदीप
४. महाभाष्य १.२.३. ६४ सूत्र

से समाधान प्रस्तुत करते हैं कि एक ही वस्तु एक ही समय में अनेक वस्तुओं से सम्बद्ध हो सकती है—यथा आदित्य एक ही समय में अनेक स्थानों पर दृष्टिगत हो सकता है—

'नैकमनेकाधिकरणस्थं युगपदिति चैत्तथैकशेषे।'[१]

अन्य आलोचक इस तर्क को बहुत बलपूर्ण नहीं मानते। उनके मत में एक ही व्यक्ति एक ही समय में भिन्न-भिन्न स्थलों पर सूर्य का अनुभव नहीं कर सकता। महाभाष्यकार इस शंका के प्रति प्रारम्भ से ही सावधान थे, इसीलिये उन्होंने अनेक दृष्टान्तों के द्वारा जातिवादी मत को पुष्ट किया। उनका अभिप्राय है कि जिस प्रकार इन्द्र देवता का आह्वान एक ही समय में भिन्न-भिन्न यज्ञों में होता है तथा वह एक ही समय में उन सभी यज्ञों की बलियों को ग्रहण करता है, उसी प्रकार जाति भी एक ही समय में भिन्न-भिन्न व्यक्तियों से सम्बन्ध रख सकती है—तद्यथा एक इन्द्रोऽनेकस्मिन् क्रतुशते आहूतो युगपत्सर्वत्र भवति। एवं आकृतियुर्गपत्सर्वत्र भविष्यति।[२]

पुनः महाभाष्यकार अपना मन्तव्य रखते हैं कि यदि जाति का सम्बन्ध अनेक व्यक्तियों से असम्भव होता तो एक शब्द विभिन्न व्यक्तियों को अभिव्यञ्जित नहीं कर पाता, परन्तु वस्तुतः एक शब्द एकशेष के रूप में स्थित हुआ अनेक व्यक्तियों का बोध कराता है, 'यो हि मन्यते—नैकम् अनेकाधिकरणस्थं युगपद् उपलभ्यत इति। एकशेष तस्य दोषस्स्यात्।'[३] अतः यह आवश्यक नहीं है कि शब्द का अर्थ किसी व्यक्तिविशेष से ही बंध कर रह जाय। 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः सुरा न पेया'—इस प्रकार उद्धरणों में ब्राह्मण तथा सुरा से तात्पर्य है कोई भी ब्राह्मण तथा सुरा। यदि शब्द का अर्थ व्यक्ति लिया जाता तो किसी एक ब्राह्मण को छोड़ कर अन्य सभी ब्राह्मणों का वध कर दिया जाता तथा किसी विशेष सुरा के अतिरिक्त अन्य सभी सुरायें पेय होतीं। कैयट का कथन इस प्रकार है कि समस्त व्यक्तियों में तुल्य सम्बन्ध के होने के कारण, उनके सम्बन्ध में अभिन्न बुद्धि के होने से तथा प्रत्येक के समाप्त हो जाने के कारण एक द्रव्य में किया गया कर्म जाति में ही किया हुआ होता है—

---

१. महाभाष्य १.२.३. ६४

२. महाभाष्य १.२.३. ६४ सूत्र

'सर्वाभिर्व्यक्तिभिः सम्बन्धस्य तुल्यत्वात् सर्वत्रैवाभिन्नबुद्ध्युत्पादनात् प्रत्येकं परिसमाप्तत्वादेकस्मिन्नपि द्रव्ये तत्कर्म क्रियमाणं जातौ कृतमेव भवतीत्यर्थः ।'[१]

जाति को पदार्थ मानने पर व्यक्तिवादियों के अनेक आक्षेप सामने आते हैं। प्रथम, लिङ्ग तथा संख्या का विचार व्यक्ति के साथ ही मेल खा सकता है— 'एवं च कृत्वा लिङ्गवचनानि सिद्धानि भवन्ति।'[२]

द्वितीय आक्षेप यह है कि क्रिया का स्वाभाविक सम्बन्ध व सम्पर्क व्यक्ति के साथ ही हो सकता है— 'चोदनासु च तस्यारम्भान्मन्यामहे द्रव्यमभिधीयते।'[३]

तृतीय, ऐसा कोई उदाहरण सम्मुख नहीं आता जिसमें एक ही सत्ता का ग्रहण एक ही समय में भिन्न-भिन्न माध्यमों से किया गया हो, तब तो एक ही देवदत्त एक ही समय में दो भिन्न-भिन्न स्थलों पर देखा जा सकता था, महाभाष्यकार का वचन द्रष्टव्य है—

'न खल्वप्येकं अनेकाधिकरणस्थं युगपदुपलभ्यते, न ह्येको देवदत्तो युगपद् स्त्रुघ्ने भवति मथुरायाञ्च।'[४]

पुनः, एक का विनाश तथा प्रादुर्भाव होने पर समस्त का विनाश तथा प्रादुर्भाव होने लगेगा—

'विनाशे प्रादुर्भावे च सर्वं तथा स्यात्।'[५]

नागेश भट्ट ने व्यक्तिवादी आचार्यों के 'गौ जातिः' कहने पर 'अर्थ होगा कि समस्त गो प्राणी का जन्म हुआ है' आक्षेप को इस प्रकार अभिव्यक्त किया है कि जाति को पदार्थ मानने पर जाति प्रत्येक व्यक्ति में उपस्थित रहती है—पहला आक्षेप यह है कि यदि जाति पूर्णरूपेण एक ही

१. महाभाष्य १.२.३.५४ सूत्र 'प्रदीप'
२. वही १.२.३.६४ सूत्र
३. वही
४. वही
५. वही

व्यक्ति में रहेगी तो फिर अन्य व्यक्तियों में वह उपस्थित नहीं होगी, और फिर एक शब्द एक ही व्यक्ति अर्थ का बोध करा सकेगा, अन्य व्यक्तियों का बोध उस शब्द से नहीं हो सकेगा।[१] साथ ही, एक व्यक्ति का ज्ञान प्राप्त करने के लिये समस्त व्यक्तियों का ज्ञान आवश्यक हो जाएगा तथा एक द्रव्य के नष्ट हो जाने पर उस द्रव्य समूह का ज्ञान नहीं हो सकता। शब्द के जाति अर्थ ग्रहण करने पर एक अन्य आपत्ति का संकेत उद्योत टीकाकार देते हैं, व्यक्ति परस्पर भिन्न होते हैं, फिर एक शब्द से उस जाति के समस्त व्यक्तियों का ग्रहण कैसे सम्भव होगा— **'अस्ति च वैरूप्यम्।'**[२]

जातिवादी आचार्य पाणिनि के सूत्र 'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ' (तात्पर्य यह है कि एक ही अर्थ के प्रत्यायक व्यक्तियों के बहुत्व का बोध कराने के लिये शब्द की पुनरावृत्ति आवश्यक नहीं है, यद्यपि प्राकृतिक नियम के अनुसार एक शब्द से एक ही व्यक्ति का अर्थ ग्रहण करना चाहिये) को बहुत अधिक उपयोगी नहीं मानते हैं किन्तु व्याडि इस मत का विरोध करते हैं। उनके अनुसार जहां एक शब्द अनेक भिन्न व्यक्तियों का बोध करा रहा है वहां जातिवादी आचार्यों का पक्ष स्वयं ही निर्बल हो जाता है, यथा 'अक्ष' शब्द पांसा, आंख, कुल्हाड़ी आदि का बोध कराता है-इस प्रकार के प्रसंगों में एक ही जाति विभिन्न प्रयोगों में अर्थबोध नहीं करा सकती। अतः समानस्वरूप वाले व्यक्तियों के लिये एक ही शब्द का ग्रहण किया जा सकता है, किन्तु जहां पृथक्-पृथक् स्वरूप वाले व्यक्ति हों, तो उनके लिये भिन्न-भिन्न शब्दों का प्रयोग किया जावे— **'व्यर्थेषु च मुक्तसंशयं भवति, आकृतावपि पदार्थे एकशेषो वक्तव्यः।'**[३]

जातिवादी आचार्यों का मत महाभाष्यकार लिङ्ग व वचन की सिद्धि के सन्दर्भ में प्रस्तुत करते हैं कि जाति ग्रहण करने पर पदार्थ में लिङ्ग व वचन ग्रहण हो जाएंगे क्योंकि गुण अनित्य होते हैं—

---

१. महाभाष्य ६४ सूत्र 'उद्योत'

२. महाभाष्य १.२.३.६४ सूत्र 'न ह्येकैकस्य भेदाभेदौ विरुद्धौ उपपद्येते।

३. महाभाष्य १.२.३.६४ सूत्र

'लिङ्गवचनसिद्धिर्गुणस्यानित्यत्वात्।'[१]

जातिवादी अपने सिद्धान्त की पुष्टि में प्रमाण प्रस्तुत करते हैं कि द्रव्य के जन्म व नाश से जाति का जन्म व नाश नहीं होता क्योंकि जाति की आत्मा व द्रव्य की आत्मा भिन्न-भिन्न हैं—

'अविनाशो नैकात्म्यात्, अनेक आत्मा आकृतेर्द्रव्यस्य च।'[२]

आकृति एक तथा नित्य है जबकि द्रव्य तद्विपरीत है।[३]

महाभाष्यकार ने आकृति के नित्यत्व को सिद्ध किया है—

'यर्त्तर्हि तद्भिन्नेष्वभिन्नं छिन्नेष्वद्दिन्नं सामान्यभूतं स शब्दः। नेत्याह आकृतिर्नाम सा।'[४]

जो भिन्न में भी अभिन्न रूप से रहता है यथा-घट में घटत्व तथा ब्राह्मण में ब्राह्मणत्वादि-वह आकृति (जाति) है। अछिन्न से तात्पर्य जाति के नित्यत्व से है, अर्थात् वस्तु के छिन्न हो जाने पर भी उसकी जाति विद्यमान रहती है।

द्रव्यवादियों के यह आक्षेप करने पर कि द्रव्यों में वैरूप्य तथा वैभिन्य रहता है तथा वैसा ही विग्रह होता है, महाभाष्यकार का समाधान यह है कि आकृति मानने पर भी द्रव्यभेद से वैरूप्य तथा विग्रह होते हैं—

'वैरूप्यविग्रहो द्रव्यभेदात्।'[५]

व्यक्तिवादियों का अन्तिम आक्षेप कि नानार्थकों में एकशेष करना पड़ेगा, इसके उत्तर में जातिवादियों का कथन है कि नानार्थकों में क्रिया की समानता अथवा संख्या की समानता के कारण जाति का बोध हो जाएगा— 'व्यर्थेषु च सामान्यात् सिद्धम्।'[६]

---

१. वही
२. महाभाष्य १.२.३. ६४ सूत्र
३. 'नित्या आकृतिरेका सर्वत्रगा तद्विपरीतं द्रव्यमिति भेदाद् द्रव्यविनाशेऽपि न जातेर्विनाशः।' वही 'प्रदीप'
४. महाभाष्य १.१.१.पसपशाह्निक
५. वही १.२.३. ६४ सूत्र
६. महाभाष्य-१.२.३. ६३ सूत्र

महाभाष्यकार द्वारा प्रस्तुत आकृति-द्रव्यवाद के विस्तृत विवेचन का सूक्ष्म अध्ययन करने के पश्चात् निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि महाभाष्यकार को दोनों ही पक्ष मान्य रहे हैं। कभी आकृति मुख्य होती है तो कभी द्रव्य तथा कभी इसके विपरीत होता है। महाभाष्यकार ने आकृति तथा द्रव्य के मध्य समन्वय स्थापित करते हुये उद्घोष किया है कि यह नहीं है कि आकृति को पदार्थ मानने पर द्रव्य पदार्थ नहीं हो सकता अथवा द्रव्य को पदार्थ मानने पर आकृति पदार्थ नहीं हो सकती। दोनों से दोनों ही पदार्थ ग्रहण हो जाते हैं।—न ह्याकृतिपदार्थकस्य-आकृतिर्गुणभूता।[१]

महाभाष्यकार ने 'आकृति' पद से जाति तथा स्वरूप दोनों ही अर्थ ग्रहण किये हैं, यथा निम्नोक्त दृष्टान्तों से स्पष्ट हो जाता है— **'आकृतिरन्या चान्या भवति, द्रव्यं पुनस्तदेव।'**[२] यहां 'आकृति' पद से स्वरूप अर्थ ग्रहण किया है।

एक अन्य स्थल पर 'नित्या आकृतिः[३] कहा गया है। यहाँ 'आकृति' पद से 'जाति' अर्थ ग्रहण किया गया है। विद्वानों में यह मतवैभिन्य हो सकता है कि 'आकृति' पद से 'जाति' अर्थ अथवा 'स्वरूप' अर्थ लिया जाय? महाभाष्यकार ने आकृति सम्बन्धी भिन्न-भिन्न परिभाषायें प्रस्तुत की हैं जिनसे आकृति-जाति तथा स्वरूप अर्थ संकेतित होता है—'आकृतिग्रहणा जातिर्लिङ्गानाञ्च न सर्वभाक्। सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या गोत्रञ्च चरणैः सह।'[४] जाति वह है जिसका बोध आकृति के आधार पर होता है। जाति अवयवविशेष से भी बोध्य होती है यथा-गोत्व, तथा उपदेश द्वारा कथित गोत्रादि से भी ज्ञापित होती है यथा ब्राह्मणत्व।एक अन्य परिभाषा महाभाष्यकार ने दी है कि द्रव्य के प्रादुर्भाव तथा विनाश के साथ जिसका प्रादुर्भाव तथा विनाश होता है वह जाति असर्वलिङ्गा है तथा बह्वर्था है अर्थात् अनेक पदार्थों में व्याप्त रहती है—'प्रादुर्भावविनाशाभ्यां सत्त्वस्य युगपद्गुणैः असर्वलिङ्गा बह्वर्था तां जातिं कवयो विदुः।'[५]

---

१. महाभाष्य १.२.३.६४
२. महाभाष्य १.१.१. पस्पशाह्निक
३. वही
४. वही ४.१.२.६३ सूत्र
५. वही

"जननेन या प्राप्यते सा जातिः न चैतस्यार्थस्य प्रकर्षापकर्षौ स्तः।"[१] महाभाष्यकार ने जाति का सम्बन्ध जनन से भी प्रस्तुत सन्दर्भ में जोड़ा है।कैयट का अभिप्राय यह है कि महाभाष्यकार का अभिप्रेत अयत्नलभ्यता दर्शाना है, अन्यथा परमाणु आदि में नित्यत्व के कारण, जनन का अभाव होने से जाति का ग्रहण नहीं होगा। यत्न से उत्पाद्य घटादि में जाति नित्य रूप में रहती है, इसमें प्रकर्ष-अपकर्ष नहीं होता।[२] श्री श्रीकृष्ण शर्मा ने 'आकृति' तथा द्रव्य के सम्बन्ध में महाभाष्यकार के विचार को सुन्दर सामञ्जस्यमय ढंग से प्रस्तुत किया है, उनका विचार है कि 'आकृति' (जाति) द्रव्य से भिन्न नहीं है, क्योंकि वह एक आकार है जो भिन्न-भिन्न द्रव्यों में दृष्टिगोचर होता है। उनका कथन द्रष्टव्य है—

". . . . . the universal according to him (Patañjali) is not totally different from the substance (dravya), as it is nothing but the one structural pattern that is recognised as one in different individuals. . . ."[3]

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि महाभाष्यकार ने आकृति तथा द्रव्य सम्बन्धी तत्कालीन वादों को सविस्तार प्रस्तुत करके दोनों में ऐक्य दर्शाया है—द्रव्य आकृति से पृथक् नहीं है तथा आकृति द्रव्य से पृथक् नहीं है।द्रव्य का ग्रहण करने पर आकृति का ग्रहण होता है तथा आकृति का ग्रहण करने पर द्रव्य का ग्रहण होता है।

आचार्य पाणिनि का मत

महाभाष्यकार ने अपने जाति-व्यक्तित्व के निर्णय में आचार्य के मत को सर्वाधिक मान्यता दी है, जब वे कहते हैं—

'उभयथा ह्याचार्येण सूत्राणि पठितानि।'[४]

आचार्य ने पदार्थ को 'जाति' तथा व्यक्ति दोनों ही ग्रहण कर सूत्र रचना की। 'आकृति' को पद मानकर सूत्र रचना की—

---

१. महाभाष्य ५.३.२.५५ सूत्र
२. वही, 'प्रदीप'
३. Akrti and Jati in the Mahabhasaya, p.65.
४. महाभाष्य १.१.१. पस्पशाह्निक

'जात्याख्यायामेकस्मिन्बहुवचनमन्यतरस्याम्।'[१]

अर्थात् बहुत्व की विवक्षा में जातिवादी बहुवचन का प्रयोग करते हैं अतः प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या से स्पष्ट है कि आचार्य ने प्रस्तुत सूत्र रचना पद का 'जाति' अर्थ मान कर की, तभी जात्यर्थ में बहुवचन का प्रयोग बताया है। भट्टोजिदीक्षित ने प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या यों की है कि एकत्व में जाति शब्द को बहुवचन विकल्प से होगा, यथा-'ब्राह्मणों को भोजन करना चाहिये'।

इस प्रकार के उदाहरणों में एकत्व में बहुवचन नहीं होगा।अतः प्रस्तुत शङ्का का समाधान प्रस्तुत करते हुये यह निर्णय किया गया कि एक अर्थ में विद्यमान शब्द अनेक अर्थों के विज्ञापन में बहुवत् होगा—'जातिशब्दे एकत्वे बहुवचने वा स्यादित्यक्षरार्थ। तथा सति ब्राह्मणाः भोज्याः इत्यादौ विशेषणान्न स्यादित्याशङ्क्य एकस्मिन्नर्थे विद्यमानः शब्दः बहूनर्थान् वक्ति एकार्थो बहुवद्भवतीति लभ्यते।'[२]

शब्द का द्रव्य अर्थ ग्रहण करने में आचार्य द्वारा प्रोक्त प्रस्तुत सूत्र बहुत सहायक हुआ है— **'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ।'[३]**

एक से स्वरूप वाले शब्दों में एक विभक्ति प्रयुक्त होने पर एकशेष रह जाता है। अर्थात् एक विभक्ति में जितने समान रूप युक्त शब्द हैं, उनमें एकशेष रह जावेगा। अतः बहुत्व में समानार्थक में एकशेष इस अभिप्राय से द्रव्यवांची अर्थ बोधित हो रहा है।

'एकः शिष्यते इतरे निवर्त्तन्ते, तत्रानेकार्थाभिधाने नैकशब्दत्वं प्राप्तं, तस्मादेकशेष।"[४]

तात्पर्य यह है कि अनेक अर्थाभिधान में अनेक शब्दत्व प्राप्त है, उसमें एकशेष रह जाता है।

डॉ० गौरीनाथ शास्त्री ने पाणिनि के सूत्र की व्याख्या के सन्दर्भ में अपने विचार इस प्रकार रखे हैं कि यद्यपि प्राकृतिक नियम के अनुसार

१. अष्टाध्यायी १.२.५८
२. सिद्धान्त कौमुदी, १.२.५८
३. अष्टाध्यायी १.२.६४
४. काशिका १.२.५८

एक शब्द से एक ही व्यक्ति (अर्थ) की अभिव्यक्ति होनी चाहिये, तथापि व्यक्तियों का बहुत्व ज्ञापित कराने के लिये एकार्थक शब्दों की पुनरावृत्ति आवश्यक नहीं है।[१] अभिप्राय यह है कि अनेक व्यक्तियों का ज्ञान कराने के लिये एकार्थक एक ही शब्द का उच्चारण पर्याप्त है तथा वही बहुत्व का भी ज्ञान करा देगा।

निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि आचार्य को जाति तथा व्यक्ति—आकृति तथा द्रव्य दोनों ही अर्थ मान्य हैं। भट्टोजिदीक्षित अपने विचार इस प्रकार प्रकट करते हैं कि वैयाकरण ने जाति तथा व्यक्ति-अर्थक दोनों ही विचारधारायें स्वीकार की हैं। उनके मत में यदि जाति अकेली को ही अर्थ का प्रत्यायक माना जाता है, तो 'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ' सूत्र दोषपूर्ण हो जाता तथा यदि व्यक्ति ही केवल अर्थ का प्रत्यायक होता तो सूत्र 'जात्याख्यायमेकस्मिन्बहुवचनमन्यतरस्याम्' व्यर्थ हो जाता।[२] अतः चूंकि दोनों ही सूत्र व्याकरणाचार्य ने लोकप्रयोग के लिये रचे हैं, अतः पद का अर्थ आकृति तथा द्रव्य माना जाना चाहिये। हेलाराज ने स्वयं उद्धृत किया है कि पाणिनीय दर्शन के अनुसार शब्द का अर्थ जाति तथा व्यक्ति दोनों ही होता है— **'पाणिनीयदर्शने जातिद्रव्ये शब्देनाभिधीयते।'**[३]

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य ने पद का अर्थ आकृति तथा द्रव्य दोनों ही लिया है। उस समय में लोक में भी समन्वयवाद ही था। चूंकि आचार्य ने सूत्ररचना तत्कालीन उपयोग को ध्यान में रखकर की, अतः सूत्ररचना दोनों मतों को प्रतिपादित करते हुये की गयी हैं स्वयं महाभाष्यकार ने इतने अधिक विस्तृत विवेचन के उपरान्त पदार्थ आकृति तथा व्यक्ति दोनों को ही मान लिया।

अन्य परवर्ती वैयाकरणों का मत

पदार्थ को जाति माना जाय अथवा व्यक्ति—इस सन्दर्भ में परवर्ती वैयाकरणों ने मूलतः महाभाष्यकार का ही अनुकरण किया है। इनमें मुख्य

---

१ Philosophy of Word and Meaning, p.150.

२. शब्दकौस्तुभ, जातिव्यक्त्योःवाच्यनिरूपणम्, पृ० २३

३. वाक्यपदीय-३.१.२.

रूप से भर्तृहरि हुये, जिन्होंने अपने पूर्वाचार्यों द्वारा जाति व व्यक्ति पदार्थ पर विस्तारपूर्वक किये गये विचार-विमर्श को ध्यान में रखते हुये विषय के गाम्भीर्य को समझा तथा परिणामतः महाभाष्यकार द्वारा उद्धृत दोनों मतों के विषय में अनेक शंकाओं-समाधानों का विस्तार से अध्ययन किया जो वाक्यपदीय के तृतीय काण्ड के जाति समुद्देश तथा द्रव्य समुद्देश में विस्तार से विवेचित है। तात्त्विक दृष्टि से जाति तथा व्यक्ति दोनों ही नित्य हैं ।

महाभाष्य त्रिपादी में उन्होंने आकृति तथा द्रव्य के सन्दर्भ में कहा है कि यदि आकृति पक्ष को मानते हैं तो विप्रतिषेध का बाधन तथा शब्दान्तर की प्राप्ति नहीं होती है और यदि द्रव्य को पदार्थ मानें तो समस्त व्यक्तियों का ग्रहण करने से उत्सर्ग और अपवाद नहीं सिद्ध हो सकते।[१] अतः वाक्यपदीयकार जाति तथा व्यक्ति दोनों को ही पदार्थ मानते हैं, दोनों ही नित्य हैं—

'पदार्थानामपोद्धारे जातिर्वा द्रव्यमेव वा।
पदार्थौ सर्वशब्दानां नित्यावेवोपवर्णितौ।'[२]

वाक्यपदीयकार का अभिप्रेत है कि प्रत्येक शब्द से सर्वप्रथम उसकी जाति का बोध होता है, ततः उस व्यक्ति-विशेष का, यथा—'गो- शब्द का उच्चारण करने से सर्वप्रथम 'गो' जाति का बोध होता है, तथा बाद में गो व्यक्ति का बोध होगा—

'स्वाः जातिः प्रथमं शब्दैः सर्वैरेवाभिधीयते ततोऽर्थजातिरूपेषु तदध्यारोपकल्पना।[३]

हेलाराज ने भी इसी प्रकार के भाव व्यक्त किये हैं कि जाति शब्द में समवाय रूप से रहती है—

'व्यक्तिरूपे च शब्दे जातेस्समवायो न तु वर्णेष्विति अवस्थिता इत्युपपद्यते।'[४]

१. महाभाष्य त्रिपादी, पृ० २३
२. वाक्यपदीय ३.१.२.
३. वही ३.२.६
४. वही ३.१.८ 'टीका'

जो व्यक्ति द्रव्य को पदार्थ मानते हैं उनके लिये वाक्यपदीयकार का तर्क है कि द्रव्य कोई सत्तामय तत्त्व नहीं है, अपितु मस्तिष्क में उस तत्त्व द्वारा उद्भूत आकार है —

'अनुप्रवृत्तिरूपां यां प्रख्यातामाकृतिं विदुः।
केचिद् व्यावृत्तिरूपां तु द्रव्यत्वेन प्रचक्षते।'[१]

जाति के बिना लोक में वस्तु-व्यवहार सम्भव नहीं, सब कुछ व्यवहार जाति के आश्रय से ही होता है। भिन्न तथा अभिन्न वस्तुओं का ज्ञान जाति के संसर्ग में आने पर ही होता है[२], जाति का वस्तु के साथ सम्बन्ध होने पर ही एक संख्या को मान कर एक, विभिन्नता को मानकर अनेक तथा अस्तित्व तथा अभाव का व्यवहार होता है[३]— तात्पर्य यह है कि पदार्थ में एकत्व, नानात्व, सत्व, असत्व पदार्थ के जाति से सम्बन्ध होने पर ही दृष्टिगत होता है।

हेलाराज का कथन है कि तत्त्व का जाति के सम्बन्ध के बिना तत्त्व का स्वभाव स्पष्ट नहीं हो सकता, यथा—'गो' का जाति के साथ सम्बन्ध न होने पर उसे 'गो' नाम नहीं दे सकते तथा न यही कह सकते हैं कि गो नहीं है। गो का जाति के साथ सम्बन्ध होने पर ही उसकी सत्ता स्पष्ट होती है। हेलाराज ने जाति तथा द्रव्य दोनों की सत्ता ब्रह्म में मानी है। उनके अनुसार ब्रह्म कभी व्यवहार्य नहीं होता, वह अद्रव्य व्यवहार से द्रव्य के परोपाधिविशिष्ट व्यवहार को ग्रहण कर लेता है। हेलाराज का वक्तव्य उल्लेखनीय है —

'संसर्गदर्शने स्वतो गौर्न गौः गोत्वाभिसम्बन्धाद् गौरिति, ब्रह्मकल्पं साक्षादव्यवहार्यमेव द्रव्यं परोपाधीयमानरूपविशेषं व्यवहारमनुपतति।'[४]

मम्मट का कथन है कि गो तत्त्व स्वरूप से गो नहीं है, तथा यह भी नहीं कि उसका अस्तित्त्व न हो, अपितु गोत्व जाति से सम्बन्ध होने पर

---

१. वाक्यपदीय ३.१.१९
२. वही ३.१.२०
३. वही ३.१.२१
४. वाक्यपदीय ३.३.५२ 'टीका'

ही स्पष्ट रूप से गो सत्तामयी होती है।[१] स्पष्ट है कि उपर्युक्त दोनों टीकाकार भर्तृहरि से प्रभावित रहे हैं। प्रो० अय्यर का मानना है कि वाक्यपदीयकार ने मुख्य रूप से जाति को ही पदार्थ स्वीकार किया।[२]

देखने में आया है कि जहां वाक्यपदीयकार ने जाति का महत्व दर्शाया है वहीं दूसरी ओर वे द्रव्य को भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं मानते। जिस प्रकार महाभाष्यकार आकृतिवादी तथा व्यक्तिवादी आचार्यों के तर्कों को विस्तार के साथ प्रस्तुत करके ततः अपने मन्तव्य प्रस्तुत करते हैं, उसी प्रकार वाक्यपदीयकार ने भी आकृतिवादी तथा द्रव्यवादी आचार्यों के विचारों का विवेचन भली प्रकार से प्रस्तुत करके पुनः दोनों में समन्वय स्थापित किया है। उनके अनुसार एक ओर जाति पदार्थ ज्ञान में प्राण है, महासत्ता है, अर्थ-प्रत्यय में मूलतत्त्व है, कारिका द्रष्टव्य है—

"सम्बन्धिभेदात् सत्तैव भिद्यमाना गवादिषु
जातिरित्युच्यते तस्यां सर्वे शब्दा व्यवस्थिताः।'[३]

दूसरी ओर उनके मत में द्रव्य भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। वाक्यपदीयकार द्रव्य की पारमार्थिक व्याख्या करते हुये कहते हैं कि आत्मा, वस्तु, स्वभाव, शरीर तथा तत्त्व—ये द्रव्य के पर्यायवाची शब्द हैं, अतः द्रव्य नित्य है—

"आत्मा वस्तु स्वभावश्च शरीरं तत्त्वमित्यपि
द्रव्यमित्यस्य पर्यायास्तच्च नित्यमिति स्मृतम्।'[४]

हेलाराज का अभिप्राय है कि वाक्यपदीयकार ने आचार्य वाजप्यायन के दर्शन के अनुसार जाति की जो पारमार्थिक व्याख्या की है, वह जातिरूप पदार्थ विशेषण रूप है तथा व्याडिदर्शन के अनुसाद द्रव्य की जो व्यवस्था की है वह द्रव्य-पदार्थ उस विशेषण का विशेष्य रूप है।

द्रव्य के नित्यत्व के सन्दर्भ में वाक्यपदीयकार महाभाष्यकार के ही विचारों को प्रस्तुत करते हैं कि आकृति के संहार के पश्चात् अन्त में जो

---

१. काव्यप्रकाश २.१०
२. Bhartṛhari, p. 242
३. वाक्यपदीय ३.१.३३
४. वही ३.२.१ टीका

अवशिष्ट रह जाता है, वह पदार्थ नित्य है, वही शब्द का वाच्यार्थ है, अर्थात् उस द्रव्य में शब्दत्व कभी समाप्त नहीं होता, 'सत्यमाकृतिसंहारे यदन्ते व्यवतिष्ठते तन्नित्यं शब्दवाच्यं तच्छब्दत्वं न भिद्यते।'[१] कुण्डल में विकार उत्पन्न हो जाने पर स्वर्ण ही अवशिष्ट रह जाता है और यही द्रव्य प्रकृतितत्त्व है जो सत्य रूप में स्थित रहता है—[२] उपर्युक्त सन्दर्भ में आकृति से तात्पर्य 'स्वरूप' से है अर्थात् स्वरूप बनता व समाप्त होता रहता है तथा द्रव्य वही रहता है।

पदार्थ द्रव्यधर्मा है तथा द्रव्य में समस्त अर्थ विद्यमान होते हैं, अतः पदार्थ के द्रव्यधर्मत्व विशिष्ट होने के कारण पदार्थ द्रव्य ही ग्रहण किया जायेगा—

"द्रव्यधर्मापदार्थे तु द्रव्ये सर्वोऽर्थ उच्यते, द्रव्यधर्माश्रयाद् द्रव्यमतः सर्वोऽर्थ इश्यते।[३]

हेलाराज ने विश्लेषण किया है कि शब्द से जिस अर्थ का उच्चारण किया जाता है वह सब द्रव्यधर्म से युक्त है शब्द आकृति तथा द्रव्य दोनों ही धर्मों से युक्त है। काल तथा स्थान के अनुसार कहीं द्रव्य का प्राधान्य हो सकता है तो कहीं आकृति का ।[४]

आकृति तथा द्रव्य दोनों ही ब्रह्ममय हैं तथा पदार्थ रूप में आकृति तथा द्रव्य के पृथक-पृथक् रहने पर भी ब्रह्म उन दोनों तत्वों में विद्यमान रहता है— 'बाह्या सा सर्वशब्दानां शब्दाश्च न पृथक् ततः, अपृथकत्वे च सम्बन्धस्तयोर्नानात्मनोरिव।'[५]

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि वाक्यपदीयकार ने आकृति तथा द्रव्य दोनों ही को पदार्थ माना है। वस्तुतः आकृति तथा द्रव्य को परस्पर पृथक् नहीं किया जा सकता—ये दोनों एक-दूसरे में समाहित हैं।

---

१. वही ३.२.११.
२. वही ३.२.१५
३. वाक्यपदीय ३. १.१३.
४. वही 'टीका'
५. वही ३.२.१६

उनका अभिप्राय है कि दोनों जाति व व्यक्ति की विवक्षा अभिप्राय से की जाती है, कहीं व्यक्ति प्रधान होता है तो कहीं जाति प्रधान होती है। शास्त्र में जाति कार्ययोगिनी होती है तथा व्यक्ति काययोगी। **'तात्पर्येण तु विवक्षाभिधीयते। किञ्चिदत्र प्रधानम् किञ्चिन्नान्तरीयकमिति। तच्च प्रतिज्ञाभेदमात्रम्।** जातिः शास्त्रे कार्ययोगिनी संचिकीर्षिता, व्यक्तिः शास्त्रे काययोगिनी संचिकीर्षितैति।'[१]

वाक्यपदीयकार के अतिरिक्त अन्य परवर्ती वैयाकरणों ने भी प्रस्तुत विषय पर विचार किया। कैयट तथा नागेश भट्ट ने तो महाभाष्य की टीका करते हुये ही अपने विचार को प्रकट कर दिया है। कैयट मानते हैं कि दोनों मतों में से एक मत को मानने से सम्पूर्ण शास्त्र की व्यवस्था नहीं हो सकती, अतः प्रश्न तो बना ही रहता है कि पद से क्या अर्थ लें-आकृति अथवा द्रव्य[२] फिर भी कैयट जाति को पदार्थ स्वीकार करते हैं, क्योंकि व्यक्ति अनन्त हैं तथा प्रत्येक के सम्बन्ध का ग्रहण असम्भव है। उनका कथन है कि गो आदि शब्द भिन्न-भिन्न द्रव्यों में समवेत भाव से रहने वाली जाति का बोध कराते हैं। जब गो आदि शब्द से गो जाति का बोध हो जाता है तदनन्तर उससे तद्जाति विशिष्ट व्यक्ति का बोध होता है। उद्धरण द्रष्टव्य है—**'जातिरेव शब्देन प्रतिपाद्यते, व्यक्तीनामानन्त्यात्सम्बन्ध-ग्रहणासम्भवात्।**[३] काशिकाकार ने भी जाति को पदार्थ माना है जहाँ उन्होंने 'प्रातिपदिकार्थसत्ता' कहकर जाति अर्थ को ही मुख्यार्थ इष्ट माना है, क्योंकि सत्ता से जाति का ही अभिप्रेत ग्रहण होता है। आचार्य मम्मट ने अपना अभिमत संकेतितार्थ के सम्बन्ध में दिया है कि संकेतितार्थ या तो चार प्रकार का—जाति, गुण, क्रिया, यदृच्छा सम्बन्धी होता है, (जिसको व्याकरणाचार्यों ने भी माना है) अथवा संकेतितार्थ केवल एक होता है और वह है 'जाति'। उद्धरण निम्नलिखित है— **'संकेतितश्चतुर्भेदो जात्यादिर्जातिरेववा।'**[४]उनका कथन है कि व्यावहारिक प्रयोग की दृष्टि से प्रवृत्तिनिवृत्ति योग्य व्यक्ति ही होता है तथापि आनन्त्य, व्यभिचार से उसमें संकेतग्रहण नहीं किया जा सकता। आनन्त्य से अभिप्राय है कि वस्तु के अनन्त होने से उन सब वस्तुओं का ग्रहण एक शब्द से नहीं किया जा

१. वाक्यपदीय १.६९
२. महाभाष्य १.१.१.पस्पशाह्निक 'प्रदीप'
३. महाभाष्य १.१.१.पस्पशाह्निक 'प्रदीप'
४. काव्यप्रकाश २८.

सकता तथा व्यभिचार से अर्थ है कि जब एक गो शब्द से एक गो व्यक्ति का ग्रहण मान लिया तब अन्य गो व्यक्तियों का ग्रहण भी उसी शब्द से करने पर व्यभिचार दोष होगा तथा एक अन्य दोष विषय-विभाग का अभाव होगा—शब्द से व्यक्ति अर्थ मानने पर पद के चार भेद—जाति, गुण, क्रिया तथा यदृच्छा व्यर्थ हो जायेंगे,[१]

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि आचार्य पाणिनि, महाभाष्यकार तथा वाक्यपदीयकार के पश्चात् सभी परवर्ती वैयाकरणों ने पद का अर्थ जाति में स्वीकार किया है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि वे द्रव्य की सत्ता नहीं स्वीकारते, अपितु अभिप्राय यह है कि पदार्थ में द्रव्य की अपेक्षा जाति बलवती है।

अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों के मत

पदार्थ जाति है अथवा व्यक्ति, इस विषय पर न केवल व्याकरण-दर्शन में ही विचार किया गया, अपितु विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों में भी मनन किया गया, परिणामतः आकृति तथा व्यक्ति सम्बन्धी अनेक मत स्थापित हो गये। कुछ सम्प्रदाय सर्वथा जाति में ही आस्था रखते थे तो कुछ आचार्य पूर्णरूपेण व्यक्ति को ही पदार्थ मानते थे तथा कुछ दार्शनिक पद से जाति तथा व्यक्ति दोनों ही अर्थ स्वीकार करते थे। अतः प्रस्तुत सन्दर्भ में विभिन्न सम्प्रदायों द्वारा स्थापित मतों का अध्ययन करना समीचीन होगा।

बौद्ध दार्शनिकों का मत

'अपोहवाद' के प्रवर्त्तक बौद्ध आचार्यों के अनुसार पद का अर्थ न तो आत्मनिष्ठ विचार है तथा न ही वस्तुनिष्ठ सत्ता है, अपितु पद का अर्थ एक कल्पितार्थ है। तत्त्वसङ्ग्रह के टीकाकार कमलशील ने द्रव्य तथा आकृति के सन्दर्भ में उपलब्ध तत्कालीन प्रचलित मतभेदों को प्रस्तुत किया है—

'जातिः पदार्थः इति वाजप्यायनः द्रव्यमिति व्याडि। उभयं पाणिनिः।[२]

---

१. काव्यप्रकाश २८

२. तत्त्वसङ्ग्रह, पृ० २८२

पद का अर्थ बौद्धाचार्यों के अनुसार प्रत्ययात्मक विकल्प है जिसका सार उस तत्त्व से अन्य सभी तत्त्वों का निषेध है। प्रो० कुञ्जुन्हिराजा प्रस्तुत मत को एक दृष्टान्त देकर स्पष्ट करते हैं कि गो शब्द से वास्तव में विषाण-श्रृङ्गादि से युक्त पशु का बोध नहीं होता है, अपितु गो शब्द उन सभी वस्तुओं का निषेध करता है जो गो नही है। उनके शब्दों में—". . .the word cow does not actually mean the animal with dewlap, horns etc., it means only the exclusion of all objects that are not the cow."[१]

पदार्थ बौद्धिक संरचना है जो इस प्रकार की अन्य संरचनाओं से स्वरूप में भिन्न है, इस प्रक्रिया में निषेधात्मक भाव रहता है जो वस्तुगत जाति समझी जाती है। बौद्धाचार्य अपोह में व्यक्ति ही स्वीकार करते हैं। उनके मत में एकत्वबुद्धि के कारण व्यक्तियों में भी अभेद का बोध होता है।

बौद्ध दार्शनिक के अनुसार जिस प्रकार गो तथा अश्व में 'अन्यापोह' विद्यमान है, उसी प्रकार 'गौ' व्यक्तियों में भी परस्पर वैभिन्य होने के कारण अन्यापोह होगा, अतः गो व्यक्ति भी परस्पर भिन्न-भिन्न हैं और व्यक्तियों में अभेद किसी 'जाति' तत्त्व के कारण नहीं अपितु बुद्धि विकल्प के कारण होता है। आचार्य धर्मकीर्ति का वचन इस प्रकार उद्धृत किया जा सकता है—**'त एव कुतश्चित् व्यावृत्ता अभिन्ना अपि व्यावृत्तिमन्तः प्रतिभान्ति। स्वयमसतामपि बुद्ध्या उपदर्शनात्।'**[२] निष्कर्षतः स्वलक्षण में व्यक्ति ही सत्य है। बौद्ध दार्शनिक मीमांसक व नैयायिकों के समान जाति की सत्ता को स्वीकार नहीं करते। वैयाकरण जहां निश्चयात्मक प्रत्यय को पदार्थ मानते हैं, वहां बौद्ध दार्शनिक निषेधात्मक ज्ञान को पद का अर्थ मानते हैं। निषेध प्रक्रिया में जाति का ग्रहण हो जाता है। जब 'गो' शब्द का उच्चारण करने पर गो भिन्न अन्य पदार्थों का निषेध होता है, वहां निषेध में अन्य पदार्थों की जाति का ग्रहण किया जा रहा है। अतः बौद्ध दार्शनिक भी 'अपोह' में जाति तथा व्यक्ति दोनों को ही स्वीकार करते हुये प्रतीत होते हैं। यथा डॉ० गौरीनाथ शास्त्री ने भी इसी प्रकार से व्याख्या की है कि 'गो' शब्द

---

1. Indian Theories of Meaning, pp. 78-79.
२ प्रमाणवार्तिक, पृ० १८२-८३

से अगो का निषेध अभिप्रेत है। वस्तुनिष्ठ गो अश्व अथवा उन सभी प्रकार के पशुओं से भिन्न है जो गो नहीं है।[१] अपोहवादी जाति की सत्ता को भ्रम मानते हैं तथा 'अपोह' को विकल्प। उनके अनुसार 'अपोह' पदार्थ का धर्म है, पदार्थ से पृथक् नहीं। बौद्धाचार्यों की यह धारणा अधोलिखित उद्धरण से पुष्ट हो जाती है—'व्यावृत्तमिव निस्तत्वं परीक्षानङ्गभावतः, अर्थाज्ञाननिविष्टास्ते यतो व्यावृत्तरूपिण (तेन भिन्ना इवाभान्ति) व्यावृत्तः पुनरन्यतः।'[२]

अतः बौद्ध मत में बौद्धिक विकल्प ही मुख्य है—जाति तथा व्यक्ति पृथक् से कोई सत्ता नहीं रखते।

जैन दर्शन के अनुसार पदार्थ

जैन दर्शन के अनुसार पदार्थ में जाति, व्यक्ति दोनों ही होते हैं—'समयश्च सामान्य-विशेषात्मकेऽर्थेऽभिधीयते न जात्यादिमात्रे।'[३]

जाति भी व्यक्ति के समान क्षणिक हैं। वे नित्य नहीं है। डॉ० आर०सी० पाण्डेय ने जैनाचार्यों की इसी धारणा को अभिव्यक्त किया है—"Universals are also not eternal. They are as momentary as particulars are."[4]

जैनाचार्यों के अनुसार वस्तुओं में रहने वाली जाति की सत्ता होती है। उन्होंने जाति को दो प्रकार की माना है—तिर्यक् जाति तथा ऊर्ध्व जाति। तिर्यक् जाति से तात्पर्य है स्वरूप अथवा आकार में साम्य तथा ऊर्ध्व जाति व्यक्तियों में सार्वकालिक रूप में रहती है—'सामान्यं द्वेधा तिर्यग्-ऊर्ध्वता-भेदात्। सदृशपरिणामस्तिर्यग् खण्डमुण्डादिगोत्ववत्, परापरविवर्त-द्रव्यं ऊर्ध्वता।'[५]

स्पष्ट है कि जैन दार्शनिक पदार्थ को दोनों ही आकृति तथा जाति रूप में स्वीकार करते हैं।

---

१. Philosophy of Word and Meaning, p.143.

२. प्रमाणवार्तिक, पृ० १९०

३. प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, अध्याय ३

४. The Problem of Meaning in Indian Philosophy, p. 220

५. प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, अध्याय ४

नैयायिक मत

नैयायिक पद से जाति, आकृति, तथा व्यक्ति तीनों ही अर्थ-ग्रहण करते हैं, आचार्य गौतम ने स्वयं इस सिद्धान्त की उद्घोषणा की है—'व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थः।'[१]

पद से भिन्न-भिन्न समय में आकृति अर्थ भी ग्रहण होता है, जाति अर्थ भी तथा व्यक्ति अर्थ भी ग्रहण होता है। अतः पद व्यक्ति का संकेत करता है, जाति का बोध कराता है तथा तद्भिन्न वस्तुओं से पृथक् करती हुयी उस व्यक्ति-सूचक आकृति का भी प्रत्यय कराता है।[२] अर्थात् जाति गोत्वादि से सर्वप्रथम सास्नादियुक्त लिङ्ग्ग्रहण होता है, ततः परम्परा से उस लिङ्ग् के द्रव्य का ग्रहण होता है। पद तीनों ही तत्त्वों का बोध कराता है। हां समय व परिस्थिति के अनुसार एक तत्त्व प्रबल हो जाता है तथा अन्य दोनों तत्त्व गौण हो जाते हैं।

प्रो० कुञ्जुन्हिराजा ने नैयायिकों के इसी अभिप्राय को अभिव्यक्त किया है कि ये तीनों ही तत्त्व पदार्थ-बोध में समाहित रहते हैं।[३]

न्यायकोष में इस प्रकार का उद्धरण उपलब्ध होता है, जिससे ज्ञात होता है कि नव्यनैयायिक पदार्थज्ञान व्यक्ति में स्वीकार करते हैं। उनके मत में जाति में पदार्थबोध नहीं होता—'व्यक्तावेव शक्ति। न तु गोत्वादिजातावपीति नव्या आहुः।'[४]

किन्तु इसी सन्दर्भ में अन्य उद्धरणों को देखने से यह ज्ञात होता है कि नव्यनैयायिकों ने भी पदार्थ जाति, आकृति तथा व्यक्ति माना है। वे भी पदार्थ में आकृति-जाति तथा व्यक्ति को महत्त्वपूर्ण मानते हैं, जैसाकि वाचस्पति मिश्र के प्रस्तुत उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है—

> 'व्यक्त्याकृतिजातयस्तिस्रोऽस्माकं पदार्था। गुण-प्रधान भावस्तु क्वचिदेव कस्यचिद्।'[५]

---

१. न्यायसूत्र २.२.६८
२. 'जातेर्गोत्वादेर्हि सास्नादिसंस्थानविशेषो लिङ्ग्गम्। तस्य च परम्परया द्रव्यवृत्तित्वम्।' गौतमसूत्रवृत्ति २.२.६७
३. Indian Theories of Meaqning, p. 70
४. न्यायकोष पृ० ८५५
५. न्यायसूत्र २.२.६५ 'तात्पर्यवृत्ति'

तात्पर्य यह है कि पदार्थज्ञान में जाति, आकृति तथा व्यक्ति तीनों का ही महत्त्वपूर्ण स्थान है तथा सन्दर्भ के अनुसार पदार्थ ग्रहण में उनमें प्राधान्य गौणता हो जाती है। पदार्थ से व्यक्तिज्ञान होने पर भी जाति-ज्ञान की अपेक्षा की जाती है। अतः स्पष्ट है कि जाति तथा व्यक्ति पदार्थ में सर्वदा विद्यमान रहते हैं।

मीमांसा मत

मीमांसकों ने पद का अर्थ जाति स्वीकार किया है। पदार्थ से सामान्यतः जाति का ही बोध होता है। शबरस्वामी का मत है कि गो, अश्व आदि शब्द आकृति के ही वाचक होते हैं—'**तस्माद् गौरश्वः इत्येवमादयः शब्दाः आकृतेरभिधायका इति सिद्धम्।**'[१]

मीमांसा दर्शन के अनुसार पदार्थों में एक नित्य तत्त्व रहता है, जो समान रूप से समस्त तत्त्वों में विद्यमान रहता है, यह तत्त्व सामान्य है। 'गो' का उच्चारण करने पर सामान्य का-ही बोध होता है, जबकि क्रिया करने वाला 'व्यक्ति' होता है अर्थात् पद से सामान्य मात्रज्ञान आकृति का होता है तथा व्यक्ति असाधारण विशेष होता है, पुनः उद्धरण द्रष्टव्य है—'**का पुनराकृतिः, का व्यक्तिः? द्रव्यगुणकर्मणां सामान्यमात्रमाकृतिः, असाधारणविशेषा व्यक्तिः। कुतः संशयाः? गौः इत्युक्ते सामान्य-प्रत्ययात् व्यक्तौ च क्रियासम्बन्धात्।**'[२]

मीमांसकों का अभिप्रेत यह है कि शब्द का प्रारम्भिक अर्थ जाति ही होता है, क्योंकि यदि 'गो' शब्द के उच्चारण करने पर गो पद से सभी गो व्यक्तियों का ग्रहण हो जाय तो 'गो' पद का अर्थ-बोध असम्भव ही हो जायेगा। कुमारिल भट्ट इस में अपना मत इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं कि 'गो' शब्द का उच्चारण होने पर 'गो' व्यक्ति विशेष का ज्ञान होने से पूर्व गो जाति का ही ग्रहण होता है। गंगेश ने कुमारिल भट्ट के मत का उल्लेख इस प्रकार किया है कि उनके मत में जाति में ही शक्ति है, ऐसा मानने में ही लाघव है, व्यक्ति का ज्ञान आक्षेप से होता है—'**भाट्टमते तु जातिरेव शक्या लाघवात्, व्यक्तिस्त्वाक्षेपलभ्या।**'[३]

१. शाबरभाष्य १.३.३५

२. वही १.३.३०

३. तत्वचिन्तामणि, पृ ५७८

डॉ० के० एन० चटर्जी ने अपने भाव कुमारिल भट्ट के न्याय के सन्दर्भ में इस प्रकार अभिव्यक्त किये हैं कि शब्द से जाति अथवा आकृति का ही ग्रहण होता है।[१] मीमांसकों के अनुसार यदि पद से व्यक्ति अर्थ ग्रहण किया जाय तो व्यक्तियों की एक समान धारणा नहीं रह पाएगी, क्योंकि व्यक्ति परस्पर भिन्न विशेषताओं से युक्त होते हैं। प्रभाकर मिश्र का कथन है कि पदार्थ में सर्वप्रथम जाति का ही ग्रहण होता है और जाति से व्यक्ति का बोध होता है, क्योंकि जाति तथा व्यक्ति दोनों में परस्पर अभेद है तथा वही प्रत्यक्ष जाति तथा व्यक्ति दोनों से ही सम्बद्ध रहता है, जैसा कि अधोलिखित उद्धरण से स्पष्ट होता है—'आकृतेः प्रथमं ज्ञाने तस्या एवाभिधेयता, व्यक्त्याकृत्योरभेदाच्च, व्यवहारोपयोगिता।'[२] अतः स्पष्ट है कि मीमांसकों ने शब्द से सर्वप्रथम जाति अर्थ ही लिया ततः व्यक्ति अर्थ प्रकारान्तर से ग्रहण होता है। डॉ० जी० वी० देवस्थली के शब्दों को निष्कर्ष रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है—

"Thus it may now be stated as a Siddhanta that words like 'go' and 'aśva' are expressive primarily not of a Vyakti but of Ākrti or class."[3]

अद्वैत वेदान्तियों के मंतानुसार भी पद से सर्वप्रथम जाति अर्थ ही ग्रहण किया जाता है, जबकि व्यक्ति तथा जाति में भेदक किसी भी प्रकार की सत्ता को वे स्वीकार नहीं करते। वेदान्त परिभाषा में स्पष्ट किया गया है कि 'गो' आदि पद से व्यक्ति का बोध जाति का व्यक्ति के साथ समन्वय होने के कारण होगा अथवा लक्षणा के द्वारा व्यक्ति का ग्रहण करेंगे, उद्धरण से स्पष्ट होता है—

'कथं तर्हि गवादिपदाद् व्यक्तेर्भावमिति चेद् जातेर्व्यक्तिसमान-सम्वित्संवैद्यत्वात् इति ब्रूमः अथवा व्यक्तेर्लक्षणावगमः।'[४]

विभिन्न दार्शनिक विचारों का अध्ययन कर लेने के पश्चात् निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि सभी दर्शन-सम्प्रदायों में शब्द का जाति

---

१. Word and Its Meaning, p.73.
२. शास्त्रप्रदीपिका, १.३.१०
३. Mimāmsā-Vākya Śāstra of Ancient India, p.36
४. वेदान्त-परिभाषा, ४.१७, १९

अर्थ सामान्यत: लिया गया है, यद्यपि व्यक्ति उसमें समय व परिस्थिति के अनुसार अभिव्यक्त होता है। बौद्ध दर्शन के अपोहवाद में भी अन्य का 'अपोह' अन्य की जाति का अपोह स्वीकार करते हैं। यहाँ भी वे गो व्यक्ति से तद्भिन्न जाति का 'अपोह' ग्रहण करते हैं।

आधुनिक भाषाशास्त्रियों का मत

वैयाकरणों तथा अन्य अनेक दर्शन-शास्त्रियों के अनुसार पदार्थ विचार करने के उपरान्त यह जान लेना भी आवश्यकीय हो जाता है कि आधुनिक भाषावैज्ञानिक पदार्थ के विषय में क्या धारणा रखते हैं। शब्द से जाति अर्थ लें अथवा व्यक्ति? इस सन्दर्भ में भी विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न प्रकार से परिभाषायें प्रस्तुत की हैं। जाति ही समस्त व्यक्तियों में नित्य तत्त्व के रूप में विद्यमान रहती है-एक व्यक्ति का बोध होने पर भी उस व्यक्ति से जाति का संकेत मिल जाता है, अत: पदार्थ में जाति मुख्य मानी जाती है। प्रो० एस० मुकर्जी ने सभी दर्शनों के सत्त्व को प्रस्तुत करते हुये निष्कर्ष रूप में कहा है कि शब्द का बोध एक धारणा है जो तथ्य रूप में व्यक्तिगत है तथा सन्दर्भ रूप में वस्तुगत अथवा विषयगत है, उनके शब्दों में— "The connatation of a word is a concept, subjective in fact, though object in reference."[१]

प्रो० मुकर्जी ने 'विषयगत' से तात्पर्य 'जाति' से लिया है। उनका अभिप्राय इस प्रकार लिया जा सकता है कि प्रथमत: पदार्थ से व्यक्ति ग्रहण होता है किन्तु दूसरे ही क्षण जाति का अवबोध होता है।

प्रो० विट्गेन्स्टीन एक प्रसिद्ध पश्चिमी विद्वान् हुये हैं, पदार्थ के विषय में उनकी मान्यता रही है कि नाम से तात्पर्य उस अर्थ से है जो सत्य का तत्त्व है, जिसका ध्वंस नहीं होता तथा जो सभी परिवर्तनों में समान रहता है—"A name signifies only what is an element of reality, what cannot be destroyed, what remains the same in all changes."[२]

---

१. The Buddhist Philosophy of Universal Flux, p.137.
२. Philosophical Investigations, p.59

अतः प्रसिद्ध विद्वान् ने शब्द का अर्थ वह माना है जो तीनों कालों में समान रहता है, प्रत्यक्ष रूप से वह तत्त्व जाति ही है जो व्यक्ति के समाप्त हो जाने पर भी सदा विद्यमान रहती है। यह पदार्थों में व्यापक रूप से स्थिर रहती है।

प्रसिद्ध तत्ववेत्ता ब्लूमफील्ड अर्थ को दो प्रकार का मानते हैं 1.—एक में व्यक्तिगत आकार-प्रकार होता है (जिसको उन्होंने non-distinctive features) कहा है, जैसे—पदार्थ की परिभाषा गुणादि का ग्रहण होता है तथा दूसरा विभेदक अर्थ होता है। व्यक्तिगत आकार-प्रकार से जाति अर्थ ग्रहण होता है तथा विभेदक अर्थ द्रव्यार्थ-बोध कराता है।

उपर्युक्त परिभाषाओं को दृष्टिगत करने से यह तथ्य सामने आता है कि प्राचीन आचार्यों के समान ही आधुनिक विद्वत्समुदाय जात्यर्थ का ही पक्षपाती रहा है। पदार्थ से जाति ही दिव्य रूप में स्वीकार किया गया है, व्यक्ति उस जाति का ही एक अंग है जो जाति के साथ ही संकेतित होता है।

(ग) शब्दार्थ-सम्बन्ध

शब्द अर्थ का प्रत्यायक है—यह निश्चित हो जाने पर एक अन्य प्रश्न साथ-साथ उभरता है कि शब्द का अर्थ के साथ किस प्रकार का सम्बन्ध है। शब्द अर्थ के साथ किस प्रकार सम्पृक्त है तथा शब्द-अर्थ का परस्पर स्वाभाविक सम्बन्ध है अथवा काल्पनिक—इन प्रश्नों के उत्तर भाषाविदों ने अपने-अपने शास्त्रों में प्रसंग के अनुसार दिये हैं। वैयाकरण-निकाय शाब्दिक होने के कारण सर्वप्रथम इन प्रश्नों पर विचार कर लेता है। महाभाष्यकार ने शब्दार्थ-सम्बन्ध के नित्यत्व अथवा अनित्यत्व के सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक विचार किया है। उन्होंने 'सिद्धे शब्दार्थ-सम्बन्धे'[२] कहकर अपने पूर्वाचार्यों की विचारधाराओं को ही पुष्ट किया है—अर्थात् उनके अनुसार शब्द और अर्थ का सम्बन्ध सिद्ध है, नित्य है। प्रस्तुत सिद्धान्त को महाभाष्यकार पुनः स्पष्ट करते हैं कि शब्द सिद्ध है, अर्थ सिद्ध है तथा इन दोनों का परस्पर सम्बन्ध सिद्ध है—

१. Bloomfield : 'Language', p.142.
२. महाभाष्य १.१.१. पसपशाह्निक

'सिद्धे शब्देऽर्थे सम्बन्धे चेति।'[१]

तात्पर्य यह है कि शब्द आकाश का गुण होने के कारण सदा नित्य रहता है तथा उसका अर्थ भी सर्वदा विद्यमान रहता है त्रिकालावस्थित है, पुनः इन दोनों शब्द तथा अर्थ का परस्पर सम्बन्ध भी सदैव रहता ही है। ऐसा नहीं कि किसी काल में किसी शब्द का अर्थ ही न हो। यही महाभाष्यकार का अभिप्रेत है कि शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्ध नित्य बना रहता है। इसी उद्धरण की व्याख्या प्रो० सुब्रह्मण्य शास्त्री ने यों की है—**'शब्दश्च अर्थश्च एतेषां समाहारः शब्दार्थसम्बन्धम्, तस्मिन्।'**[२] महाभाष्यकार ने 'सिद्ध' शब्द को नित्य का पर्यायवाची माना है, अर्थात् 'सिद्ध' शब्द वह है जो कूटस्थ, स्थिर-अविचल भावों में विद्यमान रहता है, यथा-आकाश स्थिर है अतः सिद्ध है, पृथिवी कूटस्थ है अतः सिद्ध है, महाभाष्यकार का उद्धरण इस प्रकार है—**'नित्यपर्यायवाची सिद्धशब्द--यत्कूटस्थेष्वविचालिषु भावेषु वर्तते। तद्यथा-सिद्धा पृथवी, सिद्धमाकाशमिति।'**[३] महाभाष्यकार ने व्याडि के मत को भी शब्दार्थ सम्बन्ध के नित्यत्व के सन्दर्भ में प्रस्तुत किया है। आचार्य व्याडि ने भी 'सिद्ध' शब्द का अर्थ नित्य ग्रहण किया है, क्योंकि उन्होंने उस शब्द का प्रयोग कार्य शब्द के विपरीत अर्थ में किया है—**'संग्रहे तावत् कार्यप्रतिद्वन्द्विभावान्मन्यामहे नित्यपर्यायवाचिनो ग्रहणमिति, इहापि तदेव।'**[४] कैयट ने इस प्रकार व्याख्या की है कि शब्द नित्य है जातिस्फोट लक्षण अथवाव्यक्तिस्फोट लक्षण के कारण। यदि शब्द को कार्य मानें तब भी वह नित्य है प्रवाहनित्यता के कारण। अर्थ के भी जातिलक्षण का नित्यत्व होता है। पुनः वे कहते हैं कि शब्द का अर्थ यदि द्रव्य मानें, तब भी समस्त शब्दों के असत्योपाधि से अवच्छिन्न होने पर ब्रह्मतत्त्व वाच्य होता है। अतः द्रव्यार्थ में प्रवाहनित्यता होने पर नित्यता का ग्रहण हो जाता है तथा सम्बन्ध भी (शब्द व अर्थ का) अनादि काल से व्यवहार परम्परा में है, अतः सम्बन्ध भी नित्य है।[५]

---

१. महाभाष्य १.१.१ पस्पशाहिनक
२. Lectures on patañjali's Mahābhāṣya, Vol. I, p.51.
३. महाभाष्य १.१.१ पस्पशाह्निक
४. वही
५. वही, 'प्रदीप'

चूंकि शब्द अर्थवान् होते हैं, अतः अर्थवानों का अर्थों के साथ सम्बन्ध नित्य होता है— 'नित्यो ह्यर्थवतामर्थैरभिसम्बन्धः।'[१] द्रव्य रूपी अर्थ के अनित्य होने पर भी सम्बन्ध को नित्य कहते हैं, क्योंकि अर्थबोधन की योग्यता शब्द में रहती है, और शब्द नित्य है—कैयट का कथन है—'अनित्येऽर्थे कथं सम्बन्धस्य नित्यता इति चेत्, योग्यतालक्षणत्वात्सम्बन्धस्य। तस्याश्च शब्दाश्रयत्वात्-शब्दस्य च नित्यत्वाददोषः।'[२] तात्पर्य यह है कि शब्द में यह स्वाभाविक योग्यता है कि जब वह उच्चारण किया जाता है, अर्थ की उपस्थिति कराता है। हरिवृषभ ने भी इसी प्रकार की योग्यता का प्रतिपादन किया है। शब्द का वस्तु के साथ स्वाभाविक सम्बन्ध है। यदि शब्द का वस्तु के साथ स्वाभाविक सम्बन्ध न होता तो शब्द के उच्चारण करने पर वस्तु का ज्ञान नहीं होता।[३]

पद का अर्थ चाहे जाति लिया जाय अथवा द्रव्य, दोनों ही अवस्थाओं में पद का अर्थ के साथ नित्य सम्बन्ध है, आकृतिवादी आचार्यों के अनुसार यदि पदार्थ जाति लिया जाय तथा द्रव्य अनित्य माना जाय (उनका अभिप्राय यह है कि किसी एक वस्तु के समाप्त होने पर अन्य सभी वस्तुयें समाप्त नहीं हो जातीं, अर्थात् अन्य द्रव्यों में तो वे उपलब्ध होती ही हैं), तो भी शब्द व अर्थ का सम्बन्ध नित्य है, क्योंकि शब्द का उस जाति में जो सम्बन्ध है वह नित्य है, महाभाष्यकार के अनुसार—

'आकृतिर्हि नित्या द्रव्यमनित्यम् न क्वचिदुपरतेति कृत्वा सर्वत्रोपरता भवति, द्रव्यान्तरस्था तूपलभ्यते।'[४]

यदि आचार्य व्याडि के मतानुसार पदार्थ द्रव्य माना जाय, (द्रव्य नित्य है, आकृति अनित्य, क्योंकि द्रव्य वही रहता है, आकृति बनती व बिगड़ती रहती है), तो भी पद का अर्थ के साथ सम्बन्ध नित्य है, क्योंकि उस एक द्रव्य में जो पद का अर्थ संयुक्त है वह नित्य है। अतः उनके अनुसार भी पद का अर्थ के साथ नित्य सम्बन्ध है—

१. महाभाष्य १.१.१. पस्पशाह्निक 'प्रदीप'
२. वही
३. वाक्यपदीय, १.२३ 'टीका'
४. महाभाष्य १.१.१. पस्पशाह्निक

'द्रव्यं हि नित्यम्, आकृतिरनित्या---आकृतिरन्या चान्या भवति, द्रव्यं पुनस्तदेव, आकृत्युपमर्देन द्रव्यमेवावशिष्यते।'[१] महाभाष्यकार का मत है कि शब्द तथा अर्थ का सम्बन्ध नित्य है, यह लोक-व्यवहार से सिद्ध होता है। तात्पर्यतः शब्द व अर्थ में सम्बन्ध स्वाभाविक रूप से है। लोक में जिस-जिस अर्थ को लेकर शब्द का प्रयोग किया जाता है, उनकी निवृत्ति के लिये प्रयत्न नहीं किया जाता वह प्रयोग स्वाभाविक रूप से होता है—'लोकतः यल्लोकेऽर्थमर्थमुपादाय शब्दान्प्रयुज्यते, नैषां निवृतौ यत्नं कुर्वन्ति।'[२]

लोक में यह देखने में आता है कि शब्द का उच्चारण होते ही व्यक्ति अर्थज्ञान कर लेता है शब्दार्थज्ञान में परम्परा सहायक होती है। कैयट स्पष्ट करते हैं कि वृद्ध-व्यवहार से शब्द व अर्थ के सम्बन्ध का ज्ञान होता है—'तस्माद्वृद्धव्यवहारादेव शब्दार्थ सम्बन्धव्युत्पत्तिः।'[३] बालक आवाप व उद्वाप की पद्धति से शब्द का वस्तु से सम्बन्ध समझता है। जब एक वृद्ध दूसरे वृद्ध को बालक के समक्ष कहता है-'गामानय' अथवा 'गां नय' तथा उन वाक्यों के उच्चारण के साथ ही तदनुसार क्रिया हो जाने पर बालक को यह ज्ञान हो जाता है कि अमुक शब्द का अमुक वस्तु के साथ सम्बन्ध है अथवा अमुक शब्द का अमुक क्रिया के साथ सम्बन्ध है। अतः स्पष्ट है कि शब्दार्थ-सम्बन्ध नित्य रहता है। शब्द का लोक में व्यवहार होता है तथा शास्त्र से उस शब्द व अर्थ का नियमन किया जाता है—'लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमः।'[४] अर्थात् शब्दविशेष के लिये अर्थविशेष ही उचित है। यह निश्चय शास्त्र के द्वारा होता है, ततः वह शब्द लोक में प्रयुक्त होता है.। नागेश भट्ट स्पष्ट करते हैं कि शास्त्र के द्वारा प्रकृति-प्रत्यय आदि का निश्चय किया जाता है, ततः उस विभाग ज्ञान के द्वारा ही 'गो' आदि शब्द की व्युत्पत्ति में ही धर्मनियम है, 'गावी' आदि के प्रयोग में धर्म नहीं है।[५]

महाभाष्यकार ने वस्तुज्ञान दो प्रकार का बताया है--एक उपदेश द्वारा तथा दूसरा उद्देश्य द्वारा प्राप्त होता है। प्रत्यक्ष वस्तु का वर्णन करना उपदेश

---

१. वही
२. महाभाष्य १.१.१. पस्पशाह्निक
३. महाभाष्य १.१.१. पस्पशाह्निक 'प्रदीप'
४. वही १.१.१. पस्पशाह्निक
५. महाभाष्य १.१.१. पस्पशाह्निक 'उद्योत'

है, यथा-जो व्यक्ति 'गो' पशु को नहीं जानता, उसके समक्ष पशु विशेष को उपस्थित करके तब उसे गो का ज्ञान कराना उपदेश है। उद्देश्य ज्ञान वह है जिसमें वस्तु के समक्ष न होने पर उसके गुणवर्णन के द्वारा उसका ज्ञान कराया जाता है, यथा--किसी व्यक्ति के कहने पर कि मुझे देवदत्त का ज्ञान कराओ, जबकि देवदत्त वहां उपस्थित नहीं है तो पाटलिपुत्रस्थ देवदत्त का ज्ञान उसके गुणों के द्वारा कराना उद्देश ज्ञान है। महाभाष्यकार के उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है---'प्रत्यक्षमाख्यातमुपदेशः, गुणैः प्रापणमुद्देशः....तद्यथा अगोज्ञाय कश्चिद्गां सक्थनि कर्णे वा गृहीत्वा उपदिशति। अयं गोः। इति स प्रत्यक्षमाख्यातमाह--'उपदिष्टो मे गौः' इति---तद्यथा---स इहस्थः पाटलिपुत्रस्थं देवदत्तमुद्दिशति---स गुणैः प्राप्यमाणमाह---उद्दिष्टो मे देवदत्त।' इति।[१]

कैयट ने बौद्धार्थ को मुख्य माना है। उनका कथन है कि 'अयं देवदत्तः' अथवा 'ईदृशः देवदत्तः' कहने पर जो अर्थ भासित होता है वह बाह्य है।[२] नागेशभट्ट की भी मान्यता है कि लोक में जो दृश्यमान है वह बाह्य बोध है। इस बोध में बौद्ध अर्थ शाब्दबोध के द्वारा ज्ञापित होता है।[३]

अतः स्पष्ट है कि दोनों टीकाकार स्फोट पर बल देते हैं। उनके अनुसार शब्द का अर्थ स्फोट के रूप में सदा बुद्धि में स्थित रहता है, जो सदा नित्य रहता है। बौद्ध अर्थ मानने की आवश्यकता के सन्दर्भ में महाभाष्यकार का कथन है कि ऐतिहासिक घटना को वर्तमान बनाने के लिए बौद्ध अर्थ की आवश्यकता होती है, यथा-'कंस को मारता है, बलि को बांधता है' इन वाक्यों के द्वारा ऐतिहासिक घटनाओं को वर्तमान में साकार करने के लिये अभिनेता उन चरित्रों का रूप धारण करके उनकी उपस्थिति करता है। इस प्रकार ऐतिहासिक वर्तमान होकर सजीव हो उठता है,

'हेतुमति च-'इह तु कथं वर्तमानकालताकंसं घातयति, बलिं बन्धयतीति च, चिरहते च कंसे चिरबद्धे च बलौ?[४]

---

१. महाभाष्य १.३.२.सूत्र
२. वही 'प्रदीप'
३. वही 'उद्योत'
४. महाभाष्य ३.१.२.२६ सूत्र

पूर्वकाल में घटित घटना को साकार किया जा सकता है, वह तभी सम्भव है जब उस घटना को बुद्धिगत रखके, ततः प्रत्यक्ष रूप में क्रियादि के द्वारा प्रस्तुत किया जाय। इस दृष्टान्त से यह सिद्ध होता है कि अर्थ के बुद्धिगत होने के कारण पूर्वोक्त अर्थों को प्रकट किया जा सकता है। स्पष्ट है कि शब्द तथा अर्थ के सम्बन्ध को नित्य मानने पर ही पूर्वोक्त सन्दर्भ में अर्थ को शब्द के द्वारा ज्ञापित किया जा सकता है। डॉ० कपिलदेव द्विवेदी महाभाष्यकार के सिद्धान्त के पक्ष में अपने विचार इस प्रकार रखते हैं—'यदि अर्थ की बुद्धि में सत्ता नहीं मानी जाएगी तो अतीत का वर्तमान समय में वर्णन नहीं हो सकता।'[१] महाभाष्यकार पदार्थ की त्रैकालिक सत्ता स्वीकार करते हैं अर्थात् पदार्थ के व्यवहार में त्रिकालता भी देखी जाती है। महाभाष्यकार का उद्धरण पदार्थ की त्रिकालता को सदृष्टान्त स्पष्ट करता है—'त्रैकाल्यं खल्वपि लोके लक्ष्यते--गच्छ हन्यते कंसः, गच्छ घानिष्यते कंसः, किं गतेन हतः कंसः इति।'[२] पदार्थ की तीनों कालों में बौद्धिक सत्ता ही रहती है। पदार्थ बुद्धि से पृथक् कभी नहीं होता।

'न सत्तां पदार्थों व्यभिचरति।'[३]

कैयट का कथन है कि जब तक पदार्थ का ग्रहण बुद्धि द्वारा नहीं होता, तब तक पद का प्रयोग नहीं हो सकता। अभिप्राय यह है कि शशविषाण आदि के असत् होने पर भी शश तथा विषाण की पृथक् रूप से बौद्धिक सत्ता है अतः शशविषाण के कहने पर इनका भी बुद्धिग्रहण हो ही जाता है और शब्द-प्रयोग भी लोक में दृष्टिगत होता है। "अत्यन्तासतोऽपि बहिः शशविषाणादीनर्थान् बुद्ध्या विषयीकृत्य शशविषाणादिप्रयोगः।"[४]

पदार्थ की नित्य सत्ता पदार्थ की वर्तमानकालता में भी सिद्ध हो जाती है। पदार्थ के वर्तमान काल में नित्य होने पर वर्तमान काल में ही भूत तथा भविष्यत् काल का ग्रहण हो जाता है, नागेश भट्ट के शब्दों में 'ननु बुंद्धिमत्ता सर्वाव्यवहारकाले सम्प्रतिसत्ता।'[५]

---

१. अर्थविज्ञान और व्याकरण-दर्शन, पृ० १७६
२. महाभाष्य ३.१.२.२६ सूत्र
३. महाभाष्य ५.२.२. ९४ सूत्र
४. वही 'प्रदीप'
५. वही ५.२.२. ९४ सूत्र

महाभाष्यकार के अनुसार पदार्थ शब्द में समवाय रूप से अवस्थित रहता है। पदार्थ के सभी प्रकार जाति, गुण, क्रियादि पदार्थ के साथ शब्द में समवाय सम्बन्ध से विद्यमान रहते हैं—

'स्वार्थमभिधाय शब्दो निरपेक्षो द्रव्यमाह समवेतम्।'[१]

कैयट ने स्पष्ट किया है— 'स्वार्थः स चानेकप्रकारो जातिगुण क्रियासम्बन्धस्वरूपलक्षणः.... तं स्वार्थमभिधाय, तेन स्वार्थेन समवेतं सम्बद्धं द्रव्यमाह।'[२] अतः स्पष्ट है कि शब्द पदार्थ का अभिधायक होता है। महाभाष्यकार ने अर्थ की बौद्धिक सत्ता स्वीकार करके शब्द के स्फोट रूप की उद्घोषणा की है जिसको परवर्ती वैयाकरणों—भर्तृहरि आदि ने शब्द तथा अर्थ की पृथक् नित्य सत्ता के रूप में स्वीकार किया। अतः निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि शब्द तथा अर्थ का सम्बन्ध महाभाष्यकार ने नित्य माना है।

आचार्य पाणिनि का मत

व्याकरण-सूत्रों की रचना करते हुये आचार्य पाणिनि के मस्तिष्क में वैयाकरण-दृष्टि तो थी ही, पर स्थान-स्थान पर उनके रचित सूत्रों में दार्शनिक पक्ष की भी झलक मिलती है। आचार्य ने 'तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात्'[३] कहकर शब्द की नित्यता को प्रतिपादित किया है।

'तस्येदम्'[४] सूत्र की परिभाषा से कार्य-कारण सम्बन्ध की सत्ता का बोध होता है, इस सत्ता को उन्होंने षष्ठ्यर्थ सत्ता तथा सम्बन्ध सत्ता माना है। काशिकाकार ने सूत्र की व्याख्या इस प्रकार की है—

'षष्ठ्यर्थमात्रं तत्सम्बन्धिमात्रञ्च।'[५]

---

१. महाभाष्य ५.३.२.७४ सूत्र
२. वही 'प्रदीप'
३. अष्टाध्यायी १.२.५३
४. वही ४.३.१२०
५. काशिका ४.३.१२०

एक ओर जहां प्रस्तुत सूत्र से कार्यकारणसम्बन्ध परिलक्षित होता है वहां दूसरी ओर 'तदर्हति' तथा 'तदर्हम्'[१] सूत्रों का अध्ययन करने से शब्द व अर्थ में योग्यता सम्बन्ध स्थापित हुआ प्रतीत होता है। अतः यह माना जा सकता है कि आचार्य ने शब्द तथा अर्थ में योग्यता सम्बन्ध भी स्वीकार किया है। उपर्युक्त दो सम्बन्ध-प्रकारों के अतिरिक्त संयोग-समवाय सम्बन्ध भी परिलक्षित होता है—'सप्तम्यधिकरणे च'[२] सूत्र के सन्दर्भ में 'निमित्तात् कर्मयोगे' वार्तिक की व्याख्या में जो 'चर्मणि दन्तयोः' इत्यादि पदों में सप्तमी का विधान दर्शाया गया है वह संयोग समवायात्मक सम्बन्ध के द्वारा ही सिद्ध होता है। कैयट ने इस प्रकार अभिव्यक्त किया है कि क्रिया का प्रयोजक जो अर्थ क्रिया का प्रारम्भ है, उसमें 'हेतौ' से तृतीया के प्राप्त होने पर सप्तमी का विधान किया जाता है। उस निमित्त का यदि कर्म के साथ संयोग सम्बन्ध होगा तो 'वेतनेन धान्यं लुनाति' वाक्य में सप्तमी नहीं होगी क्योंकि प्रस्तुत वाक्य में वेतन का धान्य के साथ संयोग-सम्बन्ध नहीं है।[३] अतः संयोगसमवायात्मक रूप से भी सम्बन्ध ग्रहण किया जा सकता है, यह तथ्य उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है।

'तस्यभावस्त्वतलौ' सूत्र की व्याख्या करते हुये महाभाष्यकार ने 'गुण-संद्रावो द्रव्यम्'[४] को उद्धृत किया है, जिसका अर्थ है कि गुणों का समूह द्रव्य होता है। अतः यहां अवयवावयविभाव सम्बन्ध स्वीकार किया गया है।

उपर्युक्त कतिपय सूत्रों का अध्ययन करने के पश्चात् यह स्पष्ट हो जाता है कि शब्दार्थ-सम्बन्ध आचार्य पाणिनि ने नित्य ही माना है। स्थान-स्थान पर जो संयोगसमवाय सम्बन्ध, कार्य कारण सम्बन्ध तथा अवयवावयविसम्बन्ध का संकेत मिलता है वह इस बात का द्योतक है कि आचार्य ने उपर्युक्त सम्बन्धों की सत्ता को कहीं स्वीकार किया है तथा ये सभी सम्बन्ध प्रकार शब्द तथा अर्थ के सम्बन्ध के नित्य होने के परिचायक हैं। आचार्य के योग्यता-सम्बन्ध के आधार पर ही महाभाष्यकार तथा वाक्यपदीयकार आदि

---

१. अष्टाध्यायी ५.१.६३, ११७
२. वही २.३.३६
३. महाभाष्य २.३.२.३६ सूत्र 'प्रदीप'
४. वही ५.१.२.११९ सूत्र

वैयाकरणों ने योग्यता-सम्बन्ध का प्रतिपादन किया तथा वाक्यपदीयकार ने कार्यकारण तथा योग्यता-सम्बन्ध का विस्तार से विवेचन प्रस्तुत किया। अतः स्पष्ट है कि आचार्य पाणिनि ने शब्दार्थ सम्बन्ध को नित्य स्वीकार किया है। सम्पूर्ण व्याकरण रचना इसी सिद्धान्त को आधार मान कर की गयी है, अन्यथा व्याकरण के सभी नियम (उस काल के परिप्रेक्ष्य में रचे गये) आज निरर्थक हो जाते।

परवर्ती वैयाकरणों का मत

संस्कृत व्याकरण-दर्शन में शब्द को सिद्ध तथा कार्य दोनों ही प्रकार से मानकर उसकी नित्यता पर विचार-विमर्श किया गया है। परवर्ती वैयाकरणों ने अधिकांशतः शब्द को सिद्ध ही स्वीकार किया है। उनमें वाक्यपदीयकार मुख्य हैं। उन्होंने अनेक प्रवादों का उल्लेख किया है। उन्होंने उद्धृत किया है कि कुछ दर्शन सब कुछ वास्तविक स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार शब्द विशिष्टार्थ भाग का स्पर्श करता है तथा उनसे सम्बन्धित शक्तियों का भी ग्रहण कराता है। अन्य आचार्यों के अनुसार पदार्थ की सत्ता नहीं है, शब्द उन-उन अर्थों की कल्पना करता है।[१] ब्रह्मकाण्ड में उन्होंने कहा है कि अनेक आचार्यों ने शब्दार्थ सम्बन्ध को नित्य माना है-[२] संग्रहकार ने भी शब्द तथा अर्थ को अविभक्त माना है। वाक्यपदीयकार ने अपनी हरिवृत्ति में उनके उद्धरण को इस प्रकार दिया है—

'शब्दार्थयोरसम्भेदे व्यवहारे पृथक् क्रिया यतः शब्दार्थयोस्तत्त्वमेकं तत्समवस्थितम्।'[३]

व्याडि ने माना है कि शब्दों का पदार्थों से सम्बन्ध स्वाभाविक होता है, कृत्रिम नहीं। जिस पद का जिस अर्थ से सम्बन्ध होता है वह नित्य रूप से विद्यमान रहता है—भर्तृहरि ने उनके मत को इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

'सम्बन्धस्य न कर्त्तास्ति शब्दानां लोकवेदयोः
शब्दैरेव हि शब्दानां सम्बन्धः स्यात् कृतः कथम्।'[४]

---

१. महाभाष्य त्रिपादी १.१.४४.
२. वाक्यपदीय १.२३
३ वही १.२६
४. वही

वाक्यपदीयकार ने शब्द के द्वारा अर्थ-बोध में सम्बन्ध को हेतु माना है। जिस प्रकार इन्द्रियों में विषयों के प्रति अनादि काल से योग्यता रही है, उसी प्रकार शब्दों में भी अर्थों के प्रति योग्यता रहती है, कारिका से स्पष्ट है—

'इन्द्रियाणां स्वविषयेष्वनादिर्योग्यता यथा
अनादिरर्थैः शब्दानां सम्बन्धो योग्यता तथा।[१]

शब्द व अर्थ का सम्बन्ध बौद्धिक होने के कारण नित्य है। वाक्यपदीयकार ने अर्थ की अवस्थिति पूर्वाचार्यों के अनुसार ही बुद्धि मानी है।[२] वाक्यपदीयकार ने स्पष्ट कहा है कि शब्द में अर्थ कार्यकारणभाव तथा योग्यता-सम्बन्ध से अवस्थित रहता है जिसका उद्घोष उन्होंने ब्रह्मकाण्ड में ही कर दिया है।[३] हरिवृषभ ने साधु तथा असाधु शब्दों को स्पष्ट किया है—'साधुषु गवादिषु, असाधुषु गाव्यादिषु।'[४] अतः साधु तथा असाधु दोनों ही शब्दों में अर्थ का सम्बन्ध कार्यकारण भाव तथा योग्यताभाव से रहता है।प्रो० अय्यर वाक्यपदीयकार के इस शब्दार्थ सम्बन्ध विवेचन के सन्दर्भ में योग्यता तथा कार्यकारणभाव को ही मुख्य समझा है— "Bhartṛhari emphasises Yogyatā 'natural fitness' and Kāryakaraṇabhāva - 'causality' as the two main relations between the word and meaning."[५]

हेलाराज के अनुसार कार्यकारण सम्बन्ध तथा योग्यतासम्बन्ध के आधार पर अध्यास परमार्थभाव के लिये अर्थात् शब्द तथा अर्थ में तादात्म्य के लिये होता है, पृथक् रूप के लिये नहीं—

'अध्यासस्तु द्वयोरपि परमार्थ एव न पृथग्रूपः।'[६]

---

१. वाक्यपदीय ३.३.२९
२. वही३.३.३२
३. वही १.२५
४. वही 'टीका'
5. Bhatṛhari
६. वाक्यपदीय ३.३.१. 'टीका'

हरिवृषभ ने योग्यता-सम्बन्ध इस प्रकार स्पष्ट किया है कि 'गो' शब्द कभी भी अपने अर्थ का त्याग नहीं करता। यह योग्यता ही शब्द तथा अर्थ का स्वाभाविक सम्बन्ध है। तात्पर्य यह है कि 'गो' शब्द से 'अश्व' का बोध नहीं किया जा सकता और न ही इसी प्रकार 'अश्व' शब्द से 'गो' अर्थ लिया जा सकता है।

योग्यत्वम् इति प्रकृतेन सम्बन्धः।[१]

योग्यता सम्बन्ध स्वाभाविक है जो समय अथवा संकेत--लोकव्यवहार से ज्ञात होता है।[२] प्रस्तुत सन्दर्भ में डॉ० रामशरण शास्त्री का मत उल्लेखनीय है, उनका अभिमत है कि वैयाकरणों के मत में योग्यता रूप तथा कार्यकारणरूप सम्बन्ध होता है। इन दोनों (सम्बन्धों) में जब अध्यास हो जाता है तब इनमें तादात्म्य होता है।[३]

वाक्यपदीयकार ने शब्दार्थसम्बन्ध को शब्द की शक्ति की भी शक्ति के रूप में स्वीकार किया है—

'शक्तीनामपि सा शक्तिर्गुणानामप्यसौ गुणः।'[४]

हेलाराज ने इस प्रकार व्याख्या की है कि शब्द की शक्ति ही सम्बन्ध नहीं हो सकती, क्योंकि शक्तियों के भी आधार पारतन्त्र्य, अर्थात् शक्ति किस वस्तु में रहती है तथा नियत कार्य-जनन अथवा नियमित रूप से किस कार्य को उत्पन्न करती है—इन सबका नियामक सम्बन्ध ही है, उद्धरण इस प्रकार है—**'न च शक्तिरेव सम्बन्धः शक्तीनामप्याधारपारतन्त्र्ये नियतकार्यजनने च सम्बन्ध एव नियामकः।'**[५]

वाक्यपदीयकार ने शब्दार्थ-सम्बन्ध का एक सम्बन्ध प्रकार वाच्य-वाचक सम्बन्ध भी माना है

'स्वरूपेषूपलब्धेषु व्यभिचारो न विद्यते।'[६]

१. वही १.२५
२. वाक्यपदीय ३.३.३१
३. पाणिनीयव्याकरणशास्त्रे वैशेषिकतत्वमीमांसा, पृ० १२
४. वाक्यपदीय ३.३.५
५. वही ३.३.५ 'टीका'
६. वाक्यपदीय ३.३.२.

अर्थात् शब्द, अर्थ तथा उनके स्वरूप में किसी प्रकार का विभेद नहीं होता। गो शब्द का उच्चारण करने पर 'गो', उसका अर्थ तथा शब्दार्थ के अभेद सम्बन्ध से उसका स्वरूप-गो रूप का ज्ञान निश्चित होता है।[१] डॉ० कपिलदेव द्विवेदी ने वाक्यपदीयकार के भावों को पुष्ट करते हुये शब्द तथा अर्थ में वाच्य-वाचक सम्बन्ध माना है।[२] महाभाष्यकार के उपदेश तथा उद्देश्य प्रकारों का ही समर्थन करते हुये वाक्यपदीयकार ने अपना अभिमत दिया है कि कुछ अर्थ आकार वाले हैं, जिनकी स्थिति है, सत्ता है, अतः शब्द से अर्थ-ज्ञान में इनके आकार की भी स्पष्ट प्रतीति होती है, किन्तु कुछ अर्थ ऐसे हैं यथा-धर्म, अधर्म आदि-जिनका कोई स्वरूप नहीं है, अतः ऐसे अर्थ केवल बौद्ध हैं—

'आकारवन्तः संवेद्या व्यक्तस्मृतिनिबन्धनाः।
ये ये प्रत्यवभासन्ते संविन्मात्रं त्वतोऽन्यथा।'[३]

पुण्यराज का अभिप्राय है कि निराकार अर्थों का भी बाह्य अर्थों के समान अवबोध होता है—**'कैश्चिन्निराकाराः संविद्रूपाः प्रत्याय्ययन्ते। तेषां तथैवार्थो व्यवस्थाप्यते।'**[४]

शब्दार्थ सम्बन्ध में प्रवाहनित्यता का प्रतिपादन भी वाक्यपदीयकार ने किया है। शशविषाणादि पदों का लोक में व्यवहार नहीं होता, किन्तु उच्चारण के साथ इनका भान बुद्धि में साकार रूप ले लेता है। अतः शब्द के उच्चारण के साथ अर्थ के सम्बन्ध में नित्यत्व स्थापित हो जाता है। यह नित्यता प्रवाह-नित्यता है क्योंकि यह अर्थ सम्बन्ध प्रवाह के रूप में लोक में स्थित रहता है। प्रो० अय्यर ने भर्तृहरि की प्रवाह-नित्यता को स्वीकार करते हुये शब्दार्थ सम्बन्ध को नित्य माना है।[५]

अतः स्पष्ट है कि वाक्यपदीयकार ने शब्द तथा अर्थ के सम्बन्ध को नित्य माना है। उन्होंने शब्द और अर्थ को एक ही आत्मा के दो भेद बताये हैं—

---

१ वाक्यपदीप ३.२.२

२. अर्थ विज्ञान और व्याकरणदर्शन, पृ० १७१.

३. वाक्यपदीय २.१३३.

४. वही

५. Bhartṛhari, p.218.

'एकस्यैवात्मनो भेदौ शब्दार्थावपृथक् स्थितौ।'[१]

वाक्यपदीयकार ने शब्दार्थ-सम्बन्ध के नित्यत्व को अनेक प्रकार से कार्यकारणभाव, योग्यताभाव, उपकार्य-उपकारकभाव, 'वाच्य-वाचक भाव आदि सम्बन्धों के द्वारा दर्शाया है, किन्तु इन सभी सम्बन्धों से शब्द तथा अर्थ का सम्बन्ध नित्य ही सिद्ध होता है।

वाक्यपदीयकार के अतिरिक्त अन्य परवर्ती वैयाकरणों ने भी शब्दार्थ-सम्बन्ध पर अपने विचार स्थान-स्थान पर उद्धृत किये हैं। कैयट का मत है कि शब्दार्थ-सम्बन्ध का निर्धारण लोक के द्वारा होता है—

'शब्दार्थसम्बन्धे लोक एव प्रमाणम् नान्यत्।'[२]

शब्दार्थ-सम्बन्ध को नित्य प्रतिपादित करने के लिये कैयट का कथन है कि पदों का अर्थपरिवर्तन संस्कृत व्याकरण-दर्शन में नहीं होता—'न तु शब्दः स्वार्थं परित्यज्यार्थान्तरं वक्तुं समर्थः।'[३] शब्द तथा अर्थ में तादात्म्य सम्बन्ध होने के कारण तादात्म्ययुक्त शब्दों में अर्थभेद से भेदौचित्य के कारण शब्दभेद होता है तथा समानाकारत्व के कारण एक ही शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है।[४] जिस प्रकार एक ही आम्रफल में रूप, रस, गन्ध आदि का तादात्म्य एक साथ प्राप्त होता है, उसी प्रकार एक ही शब्द में तादात्म्य के कारण अनेकार्थ निरूपित होते हैं।[५]

पण्डित हेलाराज के मत में शब्द और अर्थ का सम्बन्ध उपचार-सत्ता के आधार पर भी निश्चित किया जा सकता है तथा बाह्य पदार्थों के समान असत् अर्थों का भी उन शब्दों से सम्बन्ध नित्यत्व उपचारसत्ता में प्रतिपादित किया जा सकता है।[६] कैयट ने शब्दार्थ को बुद्धि-प्रतिभास माना है। उनका अभिप्राय इस प्रकार उद्धृत किया जा सकता है कि जब-जब शब्द का उच्चारण किया जाता है तब-तब बुद्धि उस स्वरूपवान् अर्थ को धारण कर

---

१. वाक्यपदीय, २.३१
२ महाभाष्यप्रदीय ४.१.९६
३ वही २.२.६, ५.१.११५
४. वैयाकरण सिद्धान्त लघुमञ्जूषा-'शक्तिनिरूपणम्', पृ० ४५-४६.
५. वही पृ० ४८.
६. वाक्यपदीय ३.३.५१. 'टीका'

लेती है—बुद्धिप्रतिभासः शब्दार्थो यदा यदा शब्द उच्चरितस्तदा तदर्थाकारा बुद्धिरुपजायते ।'[१]

अतः शब्द तथा अर्थ का परस्पर सम्बन्ध नित्य है। अर्थ बौद्धिक है, किन्तु शब्द के उच्चारण के साथ ही उस अर्थ का ग्रहण होता है। अतः अर्थ की प्रवाहनित्यता से अर्थ का नित्यत्व स्वीकृत हो जाता है—

'प्रवाहनित्यत्वादर्थस्य नित्यत्वमर्थः ।'[२]

रघुनाथ शर्मा ने भी अर्थ का प्रवाहनित्यता के कारण नित्यत्व स्वीकार किया है तथा शब्द का नित्यत्व स्वरूप से स्वीकारा है।[३]

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि वाक्यपदीयकार ने शब्दार्थ-सम्बन्ध के सन्दर्भ में जितने विस्तार के साथ विवेचन प्रस्तुत किया, उसी से सहमति परवर्ती वैयाकरणों ने दर्शायी है, जो उद्धरणों के रूप में व्याकरण में स्थान-स्थान पर परिलक्षित हो जाते हैं। व्याकरण पर टीका तथा भाष्य लिखते हुये वैयाकरणों ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के शब्द दर्शन के स्वरूप को भली भांति पहचाना तथा उसको और अधिक परिवर्द्धित किया।

विभिन्न दर्शन-सम्प्रदायों के अनुसार शब्द तथा अर्थ का सम्बन्ध

जैन दार्शनिकों का मत—

जैन दार्शनिकों ने शब्दार्थ-सम्बन्ध को स्वाभाविक सम्बन्ध स्वीकार किया है। इस शब्दार्थ सम्बन्ध की पुष्टि में उन्होंने प्रत्यक्ष, अनुमान तथा अर्थापत्ति तीनों प्रमाणों को आवश्यक माना है। प्रभाचन्द्र ने शब्दार्थ-सम्बन्ध के निरूपण में इन तीनों ही प्रमाणों की उपस्थिति स्वीकार की है—

'सम्बन्धावगमश्च प्रमाणत्रयसम्प्राद्यः ।'[४]

१. महाभाष्य १.१.१. पस्पशाह्निक. 'प्रदीप'

२. वही.

३. अम्बाकर्त्री १.१.

४. प्रमेयकमल मार्तण्डेय, पृ० ११६

वैयाकरणों के समान जैनाचार्यों का भी मत है कि शब्द और अर्थ में स्वाभाविक योग्यता रूपी सम्बन्ध है। जैन दर्शन के अनुसार शब्द सामान्य और विशेष अर्थात् जाति व व्यक्ति दोनों का ही बोध कराता है तथा व्यावहारिक उपयोगिता व्यक्ति की होती है और व्यक्ति के अनित्य होने के कारण व्यक्ति से सम्बद्ध सम्बन्ध भी अनित्य ही माना जाएगा। ये ही विचार उन्होंने वाक्यपदीयकार की कारिका **'नित्याः शब्दार्थ-सम्बन्धाः'** को अमान्य सिद्ध करते हुये स्पष्ट किये हैं।

शब्द तथा अर्थ में स्वाभाविक सम्बन्ध होने पर भी यह सम्बन्ध अनित्य है, प्रभाचन्द्र ने दृष्टान्त देकर स्पष्ट किया है—यथा भित्ति के नष्ट हो जाने पर चित्र भी नष्ट हो जाता है—

"सम्बन्धस्यानित्यत्वं भित्तिव्यवाये चित्रवत्।"[१]

अतः स्पष्ट है कि जैन दर्शनावलम्बी शब्दार्थ-सम्बन्ध को स्वाभाविक मानते हुये भी अनित्य मानते हैं क्योंकि वे पदार्थ व्यक्ति विशेष से सम्बद्ध मानते हैं।

मीमांसा मत

मीमांसकों ने प्राचीन भाषा-शास्त्रियों के समान ही शब्द तथा अर्थ का सम्बन्ध नित्य माना है। आचार्य जैमिनि ने उद्घोष किया है कि शब्द तथा अर्थ का सम्बन्ध औत्पत्तिक है—**'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्याऽर्थेन सम्बन्धः तस्य ज्ञानमुपदेशो व्यतिरेकश्चाऽर्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणं बादरायणस्याऽनपेक्षित-त्वात्।'**[२]

शबर स्वामी ने औत्पत्तिक सम्बन्ध को नित्य मानते हुये कहा है—**'औत्पत्तिकस्तु नित्यः। अवियुक्तः शब्दार्थयोर्भावः सम्बन्धः नोत्पन्नयोः पश्चात्सम्बन्धः औत्पत्तिकः शब्दस्यार्थे सम्बन्ध इति।'**[३]

इस औत्पत्तिकत्व के ही कारण शब्द एक ही अर्थ का प्रत्यायक होता है, अन्य अर्थों का ग्रहण उस शब्द से नहीं हो सकता।[४]

---

१. प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ० १२४.
२. मीमांसा सूत्र १.१.५.
३. शावर भाष्य-वही
४. शावर भाष्य ३.३.

पुनः आचार्य जैमिनि तथा शबर स्वामी दोनों ने शब्दार्थ सम्बन्ध को नित्य माना है, क्योंकि शब्द उच्चारण के साथ ही अर्थ का प्रत्यायन कराने में समर्थ होता है। दोनों ही उद्धरण उल्लेखनीय हैं—

'नित्यस्तु स्याद् दर्शनस्य परार्थत्वाद्।'[१]

'नित्यः शब्दो भवितुमर्हति। कुतो दर्शनस्य परार्थत्वात्। दर्शनमुच्चारणम् परार्थम्-परमर्थम्-प्रत्याययितुम् ।'[२] मीमांसकों के अनुसार शब्द तथा अर्थ के मध्य कार्य-कारण भाव, अथवा निमित्त-नैमित्तिकभाव अथवा आश्रयायीभाव सम्बन्ध नहीं माना जा सकता। पहले दो सम्बन्ध इसलिये असिद्ध हो जाते हैं क्योंकि शब्द तथा अर्थ नित्य हैं तथा ये दोनों सम्बन्ध अप्राकृतिक हैं। शब्द तथा अर्थ का आश्रयाश्रयीभाव सम्बन्ध इसलिये सम्भव नहीं, क्योंकि दोनों के आश्रय भिन्न हैं-शब्द का आश्रय आकाश है तथा अर्थ की स्थिति पृथ्वी पर है-'कार्यकारणनिमित्तनैमित्तिकाश्रयाश्रयिभावादयस्तु सम्बन्धाः शब्दस्यानुपपन्ना एवेति।'[३] शब्द तथा अर्थ को अपौरुषेय माना गया है, अतः उनके अपौरुषेय होने से उन दोनों का सम्बन्ध भी अपौरुषेय अथवा नित्य माना गया है— **'अपौरुषेयः शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः।'**[४]

डॉ० जी० वी० देवस्थली ने मीमांसा-दर्शन के शब्दार्थ सम्बन्ध के सन्दर्भ में अपने विचार व्यक्त किये है कि चूँकि इस सम्बन्ध का कोई भी कर्त्ता नहीं है अतः यह शब्दार्थ-सम्बन्ध नित्य है।[५]

अतः निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि मीमांसाचार्य वेद को अपौरुषेय मानते हैं, अतः शब्द-अर्थ के सम्बन्ध में किसी कर्त्ता की आवश्यकता नहीं है, यह तो अनादि काल से ईश्वर द्वारा निश्चित किया हुआ है।

---

१. मीमांसासूत्र १.१.१८
२. शाबर भाष्य-वही
३. वृत्तिकार ग्रन्थ, पृ० ४३.
४. वृत्तिकार ग्रन्थ, पृ० ४१
५. Mimāmsā - The vākya Śāstra of Ancient India, p.46

न्याय-वैशेषिक मत

ये दोनों ही दर्शन-सम्प्रदाय शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का खण्डन करते हैं, वे शब्द और अर्थ का केवल सामयिक अर्थात् सांकेतिक सम्बन्ध मानते हैं, नित्य अथवा स्वाभाविक नहीं। शब्दार्थसम्बन्ध को नित्य मानने में आचार्य गौतम की आपत्ति है कि यदि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य माना जाय तो एक ही शब्द विभिन्न स्थानों पर भिन्नार्थक नहीं होना चाहिये। स्पष्ट है कि शब्द का अपनी जाति में भी एकार्थ नहीं होता—

'जातिविशेषे चानियमात्।'[१]

प्रो० कुञ्जुन्हिराजा ने नैयायिकों के प्रस्तुत मत के पक्ष में इस प्रकार अपने विचार प्रस्तुत किये हैं—

"The use of differnt words for the same object is also against the theory fo natural connection between words and their meanings.[२] अर्थात् उन्हीं वस्तुओं के लिये भिन्न शब्दों का प्रयोग भी शब्द तथा अर्थ में स्वाभाविक सम्बन्ध के मत के विरुद्ध है। जयन्तभट्ट ने अपना मत दिया है कि प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाणों के आधार पर शब्दार्थ-सम्बन्ध व्युत्पन्न नहीं हो पाता। न तो शब्द और अर्थ का कुण्ड और बदर के समान संयोग सम्बन्ध है और न ही तन्तु और पट के समान समवाय सम्बन्ध ही दृष्टिगत होता है और न ही क्षुरमोदक का उच्चारण करने पर मुख का पाटनपूरण ही होता है। अतः अनुमान के आधार पर भी शब्दार्थ सम्बन्ध स्वीकार नहीं किया जा सकता और न ही शब्द-देश में अर्थ सम्भव हो सकता है और न ही अर्थ-देश में शब्द की उत्पत्ति सम्भव है क्योंकि शब्द का उच्चारण मुख से होता है और अर्थ की स्थिति भूमि पर। अतः शब्द तथा अर्थ का सम्बन्ध ही सिद्ध नहीं होता है—"न च शब्ददेशे अर्थः सम्भवति न चार्थदेशे शब्दः स्थानकरणप्रयत्नानां तद्धेतूनां घटाद्यर्थदेशे अनुपलम्भात्, व्यापकत्वं तु शब्दस्य

---

१. न्यायसूत्र २.१.५६
२ Indian Theories of Meaning, p.22

प्रतिषिद्धमेव।"[१] कुमारिलभट्ट का भी यही कथन है कि शब्द व अर्थ में सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि दोनों की स्थिति भिन्न है। उनका मत है कि हिमाचल व विन्ध्याचल पदों के अर्थ के लिये दोनों पद तथा अर्थ (हिमाचल तथा विन्ध्याचल) का एक स्थल पर होना आवश्यक है—

'न शब्दोऽर्थेन सङ्गतः।
तद्देशान्तरादृष्टेर्विन्ध्यो हिमवता यथा ।'[२]

आचार्य गौतम यह तो मानते हैं कि शब्द और अर्थ में सम्बन्ध होता है, किन्तु यह सम्बन्ध स्वाभाविक न होकर सामयिक अथवा संकेतिक होता है— 'शब्दार्थव्यवस्थानादप्रतिषेधः'। 'सामयिकत्वाच्छब्दार्थसंप्रत्ययस्य॥'[३]

संकेत का अभिप्राय वात्स्यायन ने दिया है कि अमुक पद का अमुक अर्थ होगा—इस प्रकार का षष्ठी विशिष्ट वाक्य का जो अर्थ विशेष ज्ञात होता है—उस शब्दार्थ सम्बन्ध को सामयिक कहते हैं।[४]

जयन्तभट्ट ने 'संकेत' को ही वाच्यवाचक नाम से अभिहित किया है—'शब्दार्थयोः समयापरनामा वाच्यवाचकभावः सम्बन्धः'[५]

नैयायिकों ने संकेत को ईश्वरीय संकेत माना है। उनके अनुसार सृष्टि के आदि में ही संकेत का प्रतिपादन हो गया था। अतः कतिपय ही शब्दों में अर्थ सम्बन्ध में यदृच्छा प्रयत्न हो सकता है। जयन्त भट्ट पुनः सम्बन्ध के नित्यत्ववाद तथा अपने संकेतवाद में समन्वय देखते हैं कि शब्दार्थ सम्बन्ध व्यवहार दोनों ही प्रकार से होता है।[६]

वैशेषिकाचार्यों ने भी शब्दार्थ सम्बनध में संकेत को प्रधानता दी है। कणाद ने स्पष्ट किया है कि शब्दार्थ में सांकेतिक सम्बन्ध स्वीकार किया गया है— 'सामयिकः शब्दार्थप्रत्ययः।'[७]

---

१. न्यायमञ्जरी, पृ० २२०-२२१, 'प्रमाणप्रकरणम्'
२. श्लोकवार्त्तिक-'सम्बन्धाक्षेपवादः' ७
३. न्यायसूत्र २.१.५४-५५
४. न्यायदर्शन २.१.५५ 'भाष्य'
५. न्यायमञ्जरी, पृ० १४२
६. वही, पृ९ २२४
७. वैशेषिक सूत्र ७.२.२०.

पुनः वैशेषिकाचार्यों ने नैयायिकों के समान ही शब्द अर्थ में सम्बन्ध को ही स्वीकारने में आपत्ति की है। उनका मत है-शब्द और अर्थ में संयोग सम्बन्ध दण्डादि के समान नहीं हो सकता तथा समवाय सम्बन्ध भी नहीं देखने में आता— **'शब्दार्थावसम्बद्धौ संयोगिनो दण्डात् समवायिनो विशेषाच्च।'**[१]

किन्तु यह सम्बन्ध स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं है अपितु सांकेतिक सम्बन्ध है।

उपर्युक्त दर्शन-सम्प्रदायों के सिद्धान्तों का अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि दोनों दर्शनों में शब्द और अर्थ के सम्बन्ध की स्वाभाविक सत्ता को नहीं स्वीकारा गया है। यह सम्बन्ध वाच्यवाचक भाव का अथवा सामयिक होता है जो मनुष्येच्छा से अधिक ईश्वरेच्छा पर निर्भर करता है।

योगसूत्र के अनुसार शब्दार्थ-सम्बन्ध

पतञ्जलि ने योगदर्शन में शब्दार्थ-सम्बन्ध अथवा अर्थबोध के सन्दर्भ में निरूपण किया है कि शब्द, अर्थ और ज्ञान—तीनों में अवास्तविक सम्बन्ध है, इतरेतराध्यास है-इसको उन्होंने संकर, अर्थात् माया, अज्ञान (सम्बन्ध) माना है। इन तत्त्वों का विभाग कर देने से समस्त प्राणियों के शब्दों का ज्ञान हो जाता है—**'शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात् संकरस्तत् प्रविभागसंयमात्तु सर्वभूत–रुतज्ञानम्।'**[२]

व्यास ने अपने भाष्य में अध्यास को इस प्रकार स्पष्ट किया है कि 'गो' शब्द का उच्चारण करने से गो शब्द, गो रूप अर्थ तथा गो ज्ञान—इन तीनों तत्त्वों का सम्मिलित रूप ही अध्यास है—'गौरिति शब्दो, गौरित्यर्थो, गौरिति ज्ञानम्।'[३] तात्पर्यतः चूंकि यह आभास होता है कि शब्दविशेष तथा उससे सम्बन्धित अर्थ एक ही है, अतः यह 'आभास' प्रतीति है। पतञ्जलि ने यहां स्वाभाविक सम्बन्ध न मानकर शब्द, अर्थ तथा ज्ञान—तीनों को पृथक् माना है।

---

१. वैशेषिक सूत्र ७.७.२, १३.१९.
२. योगसूत्र ३.१७.
३. वही

अन्य विद्वानों के मत में शब्दार्थ-सम्बन्ध

शब्दार्थ-सम्बन्ध की विवेचना संस्कृत व्याकरण दर्शन तथा विभिन्न दर्शन सम्प्रदायों के मतानुसार करने के पश्चात् यह आवश्यक हो जाता है कि आधुनिक भाषा-विज्ञान के अनुसार शब्दार्थ-सम्बन्ध निरूपित किया जाये। अनेकानेक भारतीय तथा पाश्चात्य भाषाविदों ने शब्दार्थ-सम्बन्ध के विषय में अपने मत प्रस्तुत किय हैं। सर्वप्रथम पश्चिमी विद्वानों का विवेचन प्रस्तुत करेंगे—

फ्रांसीसी विद्वान् डे सॉसुरे ने भाषावैज्ञानिक रूप में शब्दार्थ-सम्बन्ध को वाच्यवाचक सम्बन्ध माना है। उनके अनुसार अर्थवाच्य है तथा शब्द वाचक है।

"Here it must be noted- that both the significant and the signifie are psychical entities and the relation is subjective."[१]

शब्द उच्चारित होता है तथा उसका अर्थ-प्रत्यय बुद्धिगत होता है। अतः शब्द के उच्चारण करने पर उसके अर्थ का ग्रहण स्वतः हो जाता है। एक रूसी विद्वान् श्री मलिनोव्स्की का शब्दार्थ-सम्बन्ध विषयक मत है कि शब्द तथा अर्थ ऐकान्तिक सत्ता नहीं रखते, अर्थात् एक के बिना दूसरे की सत्ता अमान्य है।[२]

अतः आधुनिक विद्वान् भी भाषा-विज्ञान की दृष्टि से शब्द तथा अर्थ दोनों को उतना ही महत्त्वपूर्ण मानते हैं। दोनों ही अन्योन्याश्रित स्वीकार किये गये हैं। भाषा का विकास दोनों की ही बराबर सत्ता स्वीकार करने पर ही सम्भव है। प्राचीन भाषाविदों ने भी यही सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। उन्होंने भी शब्द तथा अर्थ को अपृथक् माना है—

'एकस्यैवात्मनो भेदौ शब्दार्थावपृथक् स्थितौ।'[३]

---

१. Indian Theories of Meaning, p.25. De Saussure Gaele.
२. The Meaning of Meanings, pp.308-9.
३. वाक्यपदीय २.३१.

डॉ० वेलुरि सुब्बारुव ने भी शब्दों को अर्थ-प्रत्यायक माना है। उनका मत है कि शब्दों में एक निश्चित अर्थ का प्रत्यय करने की शक्ति होती है, उनके विचार इस प्रकार उद्धृत किये जा रहे हैं— "We also know tthat words have got potentality and through that they are capable of expressing definite meanings."[1]

डॉ० कपिलदेव द्विवेदी ने माना है कि शब्द से अर्थ का ग्रहण सांकेतिक होता है, उनके शब्दों में—'प्रत्येक सार्थक शब्द किसी अर्थ (वस्तु) विशेष का बोध कराता है। कौन सा शब्द किस अर्थ का बोध कराता है, यह संकेतग्रह पर निर्भर करता है।'[२] किस शब्द से किस अर्थ का बोध लिया जाय यह लोकव्यवहार से ज्ञात होता है, अतः यही संकेत-ग्रह शब्द से अर्थ का सम्बन्ध स्थापित करता है।डॉ० वर्मा ने शब्दार्थ-सम्बन्ध में वाच्य-वाचकभाव माना है, अर्थात् शब्द वाचक है जो वाच्य-अर्थ का प्रत्यय कराता है,[३] डॉ० के० एन० चटर्जी ने शब्दार्थ-सम्बन्ध को संकेत के द्वारा स्थापित किया है। उनके अनुसार पदार्थ-ज्ञान वृद्ध व्यवहार तथा स्मृति के संकेत से होता है। संकेतज्ञान ही शब्द का अर्थ से सम्बन्ध कराता है, उनके शब्दों में— This relation is called samketa and the knowledge of samketa is considered as the cause of verbal knowledge."[4]

अनेकानेक विद्वानों की विचारधाराओं का अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि शब्दार्थ सम्बन्ध में चाहे कार्य-कारण भाव हो, अथवा वाच्यवाचक भाव, अथवा प्रत्याय्य-प्रत्यायक भाव—सम्बन्ध दोनों में है, सर्वदा है तथा नित्य है। शब्द अपने अर्थ का संकेत सदा कराता है-यह धारणा प्राचीन आचार्यों की रही है, जिसकी पुष्टि ही आधुनिक विद्वानों ने अपनी शब्दार्थ-सम्बन्ध से सम्बद्ध परिभाषाओं में की है।

---

१. The Philosophy of a sentence and its parts, p.1
२. भाषा-विज्ञान एवं भाषाशास्त्र, पृ० ३४९.
३. भाषा तत्त्व और वाक्यपदीय, पृ० १८७.
४. Word and its Meaning, Introduction, p. xxxiv.

(घ) स्फोट

शब्द क्या है, शब्द तथा अर्थ का सम्बन्ध क्या है-आदि-आदि विषयों का विवेचन करने के पश्चात् 'स्फोट' एक ऐसा विषय समक्ष उपस्थित होता है, जिस पर फिर से न केवल वैयाकरणों ने अपितु अन्य क्षेत्रों में अनेकानेक विद्वानों ने भी बहुत अधिक विस्तार से विचार-विमर्श किया है। शब्द तथा अर्थ में सम्बन्ध मानने पर ही स्फोट की स्थिति स्पष्ट हो जाती है। वक्ता द्वारा शब्द का उच्चारण करने पर श्रोता के मस्तिष्क में जो 'प्रत्यय' उत्पन्न होता है, वह प्रत्यय ही 'स्फोट' है जिसकी स्थिति बौद्धिक है। वैयाकरणों ने शब्द को जो नित्य माना है, यह वही 'स्फोट' ही है, इसी को विभिन्न संज्ञाओं से, यथा-शब्द, शब्द-ब्रह्म, वाक् आदि से विद्वानों ने अभिहित किया है, शब्द अथवा वाक्य का जो सम्पूर्ण अर्थ-प्रत्यय होता है, वही स्फोट है। प्रो० कुञ्जुन्हिराजा के शब्दों में— "The word or the sentence considered as a single meaningful symbol is called the Sphoṭa."[1]

शब्द में विभाजन होता है, उच्चारण के समय शब्द का प्रत्येक वर्ण पृथक्-पृथक् सुनाई देता है, किन्तु उच्चरित प्रत्येक वर्ण मस्तिष्क में अपनी संज्ञा छोड़ता है और वे संज्ञायें अन्तिम वर्ण के साथ मिलकर शब्द-बोध कराती हैं, ये सम्मिलित संज्ञायें ही 'स्फोट' हैं। व्याकरण-दर्शन में 'स्फोट' का जो विकसित रूप प्राप्त होता है, वहां उसके मूल में आचार्य पाणिनि तथा महाभाष्यकार का दर्शन मुख्य है। अतः सर्वप्रथम महाभाष्यकार के अनुसार 'स्फोट' का अध्ययन करेंगे। महाभष्यकार ने शब्द को नित्य माना है—

"नित्यपर्यायवाची सिद्धशब्दः।'[२]

"सिद्धं तु नित्यशब्दत्वात्।'[३]

नित्य शब्द से उनका अभिप्रेत यही है कि उच्चारण के बाद यद्यपि वर्ण समाप्त हो जाते हैं, किन्तु प्रत्येक वर्ण पूर्वोच्चारित वर्ण के साथ मिलकर एक सम्पूर्ण शब्द अथवा वाक्य का ज्ञान कराता है—

---

१. Indian Theories of Meaning, p.97.
२. महाभाष्य १.१.१. पस्पशाह्निक.
३. वही १.१.३.१. सूत्र.

"श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेणाभिज्वलितः आकाशदेशः शब्दः।'[१]

शब्द की स्थिति आकाश है, अतः शब्द को नित्य स्वीकार किया गया है। डॉ० गौरीनाथ शास्त्री यहाँ शब्द के नित्यत्व से तात्पर्य समस्त शब्दों में विद्यमान रहने वाली शब्द जाति से लेते हैं, जो सर्वदा नित्य रहती है। उनके शब्दों में— "When he says in that connection that 'word' is eternal, he means that word-ness, i.e. the universal inhering in all words, (Sabdatattva) is eternal."[२]

उच्चरित पूर्व-पूर्व वर्ण की बुद्धि में स्थित संस्कार परम्परा के सम्बन्ध में कैयट स्पष्ट करते हैं— 'पूर्वपूर्वध्वन्युत्पादिताभिव्यक्तिजनितसंस्कारपरम्परा प्राप्तपरिणामान्त्यबुद्धि- निर्ग्राह्यः इत्यर्थः।'[३] उच्चरितध्वनियों से उत्पन्न संस्कार बुद्धि में परिपाक को प्राप्त होकर अन्त्य ध्वनि के साथ स्वरूप ग्रहण करते हैं। 'कृपो रोलः' सूत्र के सन्दर्भ में महाभाष्यकार स्फोट के प्रत्ययात्मक रूप की ही व्याख्या करते हैं कि 'र' तथा 'ल' इन दोनों ही स्थलों पर स्फोटमात्र ही निर्दिष्ट है। 'र' ध्वनि के स्थान पर 'ल' ध्वनि रहती है, जबकि दोनों का स्वरूप बुद्धि में स्फोटरूप में विद्यमान रहता है—'अथवोभयतः स्फोटमात्रं निर्दिश्यते, रश्रुतेर्लश्रुतिर्भवति।'[४] अतः महाभाष्यकार ने एक वर्ण को भी 'स्फोट' माना है।

प्रो० कुञ्जुन्हिराजा का उद्धरण प्रस्तुत सन्दर्भ में दे देना उचित ही होगा। उनका कथन है कि पतञ्जलि मानते हैं कि ध्वनिसमूह ही स्फोट है, वह ध्वनि एक वर्ण की भी हो सकती है अथवा वर्णसमूहों की भी—". . . for Patañjali the Sphoṭa is a unit of sound as an isolated letter, or a series of letters."[५]

---

१. महाभाष्य १.१.२.१. सूत्र
२. The Dialectics of Sphoṭa, p.11
३. महाभाष्य १.१.२.१. सूत्र 'प्रदीप'
४. महाभाष्य १.१.२.३-४ सूत्र
५. वही १.१.२.३-४ सूत्र

यह स्फोट ध्वनि द्वारा अभिव्यञ्जित किया जाता है। अतः जहां महाभाष्यकार ने स्फोट को शब्दरूप माना है, ध्वनि उनके अनुसार शब्दगुण है—'**स्फोटः शब्दः ध्वनिः शब्दगुणः।**'[१]

शब्दरूप तथा शब्दगुण-दोनों ही रूपों में स्फोट बुद्धि में अवस्थित रहता है, क्रम तो ध्वनि में आता है, वृद्धि और ह्रास तो ध्वनि में होता है। महाभाष्यकार भेरी के दृष्टान्त के द्वारा स्पष्ट करते हैं कि यथा भेरी पर आघात करने से वह ध्वनि बीस पग चलती है, अथवा तीस पग गूंजती है, अतः स्फोट का ग्रहण इसी प्रकार होता है—'**तद्यथा भेर्याघातो भेरीमाहत्य कश्चिद्विंशति पदानि गच्छति, कश्चित्त्रिंशत्, कश्चित् चत्वारिंशत्। स्फोटस्तावानेव भवति। ध्वनिकृता वृद्धिः।**'[२]

स्फोट शब्द का बौद्धिक रूप है तथा ध्वनि बाह्य रूप है। उच्चरित ध्वनि के अल्पत्व तथा महत्व के आधार पर स्फोट निर्धारित होता है।[३] कैयट ने इस प्रकार अभिव्यक्त स्फोट को व्यक्ति स्फोट माना है—

'**व्यक्तिस्फोटोऽत्र विवक्षितः स च नित्यः।**'[४]

वक्ता वर्णों का उच्चारण करता है क्योंकि शब्द एक साथ उच्चारित नहीं हो सकता तथा श्रोता भी वर्णों का ग्रहण करता है। भिन्न प्रयत्न के साथ उच्चरित प्रत्येक वर्ण उच्चारण के अनन्तर ही समाप्त हो जाता है। महाभाष्यकार दृष्टान्त के द्वारा स्पष्ट करते हैं कि 'गौः' शब्द के उच्चारण के समय जो वाक् (प्रयत्न अथवा वागिन्द्रिय, नागेश के मत में) 'गकार' के उच्चारण में रहती है, वह वाक् 'औ' तथा विसर्ग में नहीं रहती, उसी प्रकार जब वाक् विसर्ग के उच्चारण में होगी तो 'ग' तथा 'औ' में नहीं होगी— '**गौरिति गकारे यावद्वाग्वर्तते, नौकारे न विसर्जनीये, यावत् औकारे न गकारे न विसर्जनीये, यावद्विवर्सजनीये न गकारे, नौकारे।**'[५] वक्ता तथा श्रोता दोनों के मस्तिष्क में ये वर्ण एक साथ स्थित रह सकते हैं तथा वर्णों

---

१. Indian Theories of Meaning, p.102.
२. महाभाष्य १.१.९.७० सूत्र
३. वही
४. महाभाष्य १.१.९.७० सूत्र 'प्रदीप'
५. महाभाष्य १.४.४.१०८ सूत्र

के अनुसार अर्थ में पौर्वापर्य बुद्धि में आता है। महाभाष्यकार ने प्रस्तुत सन्दर्भ में एक प्राचीन श्लोक उद्धृत किया है—

'बुद्धौ कृत्वा सर्वाश्चेष्टाः कर्त्ता धीरस्तत्वनीतिः
शब्देनार्थान्वाच्यान्दृष्ट्वा बुद्धौ कुर्यात् पौर्वापर्यम्।'[१]

मनुष्य अर्थ की दृष्टि से पहले शब्द का, फिर वर्ण का बौद्धिक आकलन कर लेता है। वर्ण सार्थक हैं अथवा निरर्थक—इस विषय पर भी महाभाष्यकार ने सविस्तार विवेचन प्रस्तुत किया है। महाभाष्यकार ने वर्ण को सार्थक तथा निरर्थक, दोनों ही माना है। वर्ण को अर्थवान् मानने में तर्क यह है कि धातु, प्रातिपदिक, प्रत्यय, निपात आदि के एक वर्ण से भी अर्थज्ञान हो जाता है। एक वर्ण में परिवर्तन करने से अर्थ में परिवर्तन हो जाता है, उसी प्रकार एक वर्ण के हटा देने से अर्थज्ञान सम्भव नहीं, दूसरी ओर वे वर्ण को निरर्थक भी स्वीकार करते हैं। अतः कहीं वर्ण सार्थक होते हैं तथा कहीं पर निरर्थक होते हैं—'यद्धातुप्रत्ययप्रातिपदिकनिपाता एकवर्णा अर्थवन्तः, अतोऽन्येऽनर्थका इति।'[२] स्फोट अथवा शब्द ज्ञानज्योति के समान एक रूप होता है। यथा ज्योति ज्वाला रूप में भिन्न-भिन्न प्रतीत होती है, यद्यपि वह एक रूप है, उसी प्रकार स्फोट भी ध्वनिरूप में भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है—

'ज्योतिर्वज्ज्ञानानि भविन्त।'[३]

कैयट का कथन है कि शब्द की अभिव्यञ्जक ध्वनियां भिन्न होते हुये भी सादृश्य के कारण समान होती हुयी श्रोता के कर्ण-प्रदेश में पहुंच कर शब्द को व्यक्ति-स्फोट रूप अथवा जातिस्फोट रूप में अभिव्यत्त करती हैं।[४] अर्थात् स्फोट ध्वनि रूप में पृथक्-पृथक् रहता है तथा बुद्धिस्थ हुआ वह एक स्वरूप वाला हो जाता है। डॉ० गौरीनाथ शास्त्री ने परवर्ती वैयाकरणों के विचारों का अनुमोदन करते हुये स्फोट के लिये 'Internal Consciousness'[५] अर्थात् आन्तर ज्ञान शब्द का प्रयोग किया है।

---

१. महाभाष्य १.४.४.१०८ सूत्र
२. महाभाष्य १.१.२.५ सूत्र
३. वही १.४.३.२९ सूत्र
४. वही 'प्रदीप'
५. A Study in Dialectics of Sphoṭa, p.13

महाभाष्यकार ने स्फोट को शब्द-ब्रह्म रूप में भी देखा है। 'चत्वारि श्रृङ्गाः त्रयोऽस्यपादाः' मन्त्र की व्याख्या करते हुये उन्होंने उस महान् देव को वाक् देव ही माना है, वह वृषभ देव शब्द करता है, वह देव मनुष्यों में प्रवेश करे। वह महान् देव शब्द ही है—

'वृषभो वर्षणात्, रोरवीति =शब्दं करोति। महादेवो मर्त्यां आविवेश। महान् देवः शब्दः, मर्त्यो-मरणधर्माणो मनुष्याः, तानाविवेश।'[१]

महाभाष्यकार ने शब्द ब्रह्म की अर्चना इसलिये की है, क्योंकि वही शब्द-ब्रह्म ध्वनि रूप में स्थित होकर बाह्य जगत् में शब्दायमान होता है। नागेशभट्ट ने 'महान् देव' से शब्दब्रह्म का ही आशय लिया है[२] तथा आगे नागेश भट्ट ने उस वृषभ देव को सर्वशक्तिमान् स्वीकार किया है—

'सर्वेश्वरः सर्वशक्तिर्महान् शब्दवृषभः।'[३]

अतः स्फोट के सन्दर्भ में महाभाष्यकार द्वारा विवेचित परिभाषाओं का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि महाभाष्यकार के विचार स्फोट के विषय में बहुत विकसित थे, जिसका आश्रय लेकर वाक्यपदीयकार आदि परवर्ती वैयाकरणों ने स्फोटवाद' की ही स्थापना कर डाली। सम्पूर्ण व्याकरण की नींव इसी वाक् दर्शन पर ही आधारित है।

वैदिक पृष्ठभूमि में स्फोट

स्फोट के सन्दर्भ में वेदों में स्थान-स्थान पर उद्धरण उपलब्ध होते हैं। जिनमें वाणी की वाक् देवी के रूप में अर्चना की गयी है तथा वाणी को सर्वशक्तिमान् स्वीकार किया गया है। शब्द को केवल वर्ण-समूह ही नहीं समझा गया अपितु अर्थ-प्रत्यायक अविभक्त पद के रूप में स्वीकार किया गया। ऋग्वेद का एक मन्त्र उद्धृत है—

'उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचं,
उत त्वः श्रृण्वन्न श्रृणोत्येनाम्,
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे,
जायेव पत्य उशती सुवासा।'[४]

---

१. महाभाष्य १.१.१. पस्पशाह्निक
२. वही 'उद्योत'
३. महाभाष्य १.१.१. परस्पशाह्निक 'उद्योत'
४. ऋग्वेद १०.७१.४.

महाभाष्यकार ने उद्धरण का अर्थ किया है-'वाङ्नो विवृणुयादात्मानम्'[१] अर्थात् वाणी अपने आपको हमारे समक्ष प्रस्तुत करे। यहां वाणी से तात्पर्य शब्द-ब्रह्म से ही है।

भर्तृहरि ने प्रस्तुत मन्त्र की व्याख्या इस प्रकार की है कि यह वाक् अपने आपको उस व्यक्ति के समक्ष उपस्थित करती है जिसको व्याकरण के विज्ञान का विस्तृत ज्ञान प्राप्त होता है तथा जिसने शब्द, ज्ञान तथा प्रत्यय का गहन अध्ययन करके अपने अज्ञान को पूर्णतया समाप्त कर दिया है। वही व्यक्ति समझ सकता है कि यह समस्त बाह्य जगत् शब्द-तत्त्व का विवर्त है।[२]

भरत मिश्र ने एक ब्राह्मण ग्रन्थ का उद्धरण प्रस्तुत करके शब्द-तत्त्व के प्रसंग में व्याख्या की है। मन्त्र इस प्रकार है— **'सैतं मन्त्रमपश्यत्।'**[३]

उसने (ऋषि ने) इस मन्त्र के दर्शन किये, अर्थात् ऋषि ने प्रस्तुत मन्त्र का श्रवण किया। किन्तु ऋषि के श्रवण व सामान्य व्यक्ति के श्रवण प्रकार में अन्तर होता है। अर्थात् ऋषि बाह्य रूप से न सुनते हुये भी सुन लेता है। अतः यह मानना पड़ेगा कि मन्त्र केवल वर्णों व पदों का समूह ही नहीं है जिनका ग्रंहण ध्वनियों के द्वारा होता है, अपितु मन्त्र का एक अलौकिक स्वरूप है जिसका ग्रहण वह ऋषि करता है। वैदिक साहित्य में स्थान-स्थान पर आध्यात्मिक शब्द 'प्रणव', 'ओम्' का उल्लेख किया गया है-जो मूलरूप में ध्वनि है तथा जिससे वाक् के सभी रूप विकसित हुये हैं। इस पवित्र शब्द के तीन अंवयवों-अ, उ, म् का उदय ब्रह्म के हृदय में उस समय हुआ, जब वह गम्भीर आध्यात्मिक चिन्तन कर रहा था।नागेश भट्ट ने स्फोट को आन्तर प्रणव के रूप में ही माना है। उन्होंने कहा है कि सभी वाक् इस ओंकार से ही विकसित हैं तथा श्रुतियों ने माना है कि वाक् ही नाना रूपों में अभिव्यक्त होती है। स्पर्श, ऊष्म आदि से अभिव्यक्त होकर यह वाणी नाना रूपों को धारण कर लेती है, वाक्य,

---

१. महाभाष्य १.१.१. पस्पशाह्निक.

२. स्फोटसिद्धि, पृ० १८-२९.

३. स्फोटसिद्धिनिर्णयविचार, पृ० २११-४२.

पदादि रूपों में भी यही वाणी परिलक्षित होती है तथा घट, पटादि में भी यही वाणी दृष्टिगत होती है—'स चायं स्फोट आन्तरप्रणवरूप एव। 'ओंकार एव सर्वावाक् सैषा स्पर्शोष्मभिः व्यज्यमाना बह्वी नाना रूपा भवति' इति श्रुतेः।[१] 'ओम्' को परमब्रह्म के रूप में देखा गया है। स्कन्द पुराण का प्रस्तुत उद्धरण इस सन्दर्भ में पर्याप्त प्रकाश डालता है—'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म, ओङ्कारं पृच्छामः। दिशा त्वमवकाशोऽसि दिशः रवं स्फोट, आश्रयः नादो वर्णस्त्वमोङकारः आकृतीमां पृथक्कृति।'[२]

'ओम्' को शब्दब्रह्म स्वीकारने के सन्दर्भ में डॉ० जी० मरूलसिद्धैया का कथन है - "Words reveal the unique potientiality and mystic significance of that mysterious term Om."[३]

अर्थात् शब्द स्वयं में 'ओम्' के माहात्म्ययुक्त स्वरूप को परिलक्षित करते हैं। वैयाकरणों ने भी बाह्य जगत् को शब्द-ब्रह्म का ही विवर्त माना है—

'विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः।'[४]

शब्द-ब्रह्म द्वारा जगत् की सृष्टि के सन्दर्भ में छान्दोग्योपनिषद् का उद्धरण उल्लेखनीय है—

'एकोऽहं बहु स्यां प्रजायेय।'[५]

अर्थात् वह वाक् सृष्टि-इच्छामयी होकर बाह्य जगत् के रूप में सक्षम उपस्थित होती है जिसमें छह भाव-विकार आ जाते हैं, जिनको निरुक्तकार ने जायते, अस्ति आदि रूपों में स्वीकार किया है।[६] बृहदारण्यकोपनिषद् में एक श्रुति उपलब्ध होती है—

---

१. वैयाकरण सिद्धान्त मञ्जूषा, 'स्फोटतत्त्वनिरुपणम्', पृ० ३६९.
२. स्कन्दपुराण, अध्याय ८५.
३. Śabdavṛttis
४. वाक्यपदीय १.१.
५. छान्दोग्योपनिषद् ६.२.१९
६. 'षड्भावविकारा भवन्तीति वार्ष्यायणिः। जायते, अस्ति, विपरिणमते, वर्धते, अपक्षीयते, विनश्यति इति।—निरुक्त १.१.१.

'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूय ईयते।'[१]

अर्थात् यह शब्द अनेक ध्वनिरूपों में प्रस्फुटित होता है।

तैत्तिरीय ब्राह्मण की एक अन्य श्रुति इस प्रकार है—

'स भूरिति व्याहरत् भवमसृजत्।'[२]

अभिप्राय यह है कि अर्थ सृष्टि अर्थात् यह शब्द जगत् जड़ व चेतन के सम्मिश्रण से सृष्टिरूप को प्राप्त हुआ, अर्थात् उस वाक् से मायाओं के द्वारा (जिनको भर्तृहरि ने शक्ति माना है) बाह्य जगत् के रूप में विवर्त को प्राप्त हुआ।

अतः उपर्युक्त विवरण से यह निष्कर्ष लिया जा सकता है कि वाणी का जो स्वरूप आज प्राप्त है अर्थात् स्फोट अथवा शब्द-ब्रह्मरूप में प्राप्त है, वह वाक् वैदिक काल में भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण थी। अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि उस काल में भी वाणी का स्फोटात्मक रूप ही ग्रहण किया गया था, जो 'वाक्' के लिये प्रयुक्त हुये प्रणव आदि शब्दों के स्पष्ट रूप में परिलक्षित होता है।

आचार्य पाणिनि के मत में स्फोट

महाभाष्यकार ने स्थान-स्थान पर अपने तर्क को पुष्ट करने के लिये आचार्य पाणिनि के कथन का आश्रय लिया है, यथा-शब्दार्थ-सम्बन्ध के नित्यत्व को सिद्ध करने के लिये, जिससे सिद्ध होता है कि आचार्य ने शब्द को नित्य माना है। आचार्य को स्फोट के विषय में कुछ ज्ञान प्राप्त था अथवा नहीं, यह कहना कठिन है, यद्यपि 'स्फोटायन' ऋषि का संकेत आचार्य ने दिया है, जिनको व्याकरण-शास्त्रियों ने स्फोट का आदि आचार्य माना है। स्फोट सम्बन्धी यत्किञ्चित् संकेत अष्टाध्यायी के कतिपय सूत्रों तथा उनकी व्याख्या में उपलब्ध हो जाते हैं—[३]

'सर्वत्र विभाषा गोः'
'अवङ् स्फोटायनस्य'
'इन्द्रे च नित्यम्'

१. बृहदारण्यकोपनिषद् २.५.१९.
२. तैत्तिरीय ब्राह्मण २.२.४२.
३. अष्टाध्यायी ६.१.१२२, १२३, १२४.

इन सूत्रों की व्याख्या करते हुये भट्टोजिदीक्षित तथा वामनजयादित्य ने निम्नांकित उदाहरण दिये हैं—गो अग्रम्, गोऽग्रम्, गवाग्रम् तथा गवेन्द्रः। वर्णवादी आचार्य 'गो अग्रम्' पद को मानते हैं। इनके अनुसार वर्ण सार्थक है। पदवाची आचार्यों के मत में 'गोऽग्रम्' पद सिद्ध होता है, वे पद की सत्ता को मुख्य मानते हैं तथा वाक्यवादी आचार्य 'गवाग्रम्' पद को मान्य बता कर वाक्यवाद की पुष्टि करते हैं। आचार्य पाणिनि ने निर्देश किया है कि स्फोटायनाचार्य के मत में 'अवङ्' आदेश होता है। उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि आचार्य पाणिनि ने 'गो' शब्द को शब्द-तत्त्व मानकर विभिन्न विद्वानों द्वारा प्रतिपादित स्फोटवाद को ही प्रस्तुत किया है। 'अवङ्' आदेश होने पर 'गवाग्रम्' तथा 'गवेन्द्रः' की सिद्धि से स्पष्ट होता है कि आचार्य ने वाक्य को ही सार्थक माना है। ओ के स्थान पर 'अवङ्' आदेश कर देने पर ओ तथा अवङ् दो रूप स्फोट तथा ध्वनि समझे जा सकते हैं अर्थात् 'अवङ्' में स्फोट 'ओ' का सत्त्व है। 'ओ' को अवङ्' आदेश हो जाने पर ओ का अंश अवङ् में अन्त तक रहता है। युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा सम्पादित 'पाणिनीयशिक्षासूत्राणि' के अन्तर्गत एक सूत्र उपलब्ध होता है जिसमें आचार्य ने शब्द को न केवल 'अक्षर ब्रह्म' कहा है, अपितु उसे निःश्रेयस् तथा अभ्युदय का निमित्त भी माना है—

'तमाक्षरे ब्रह्मपरं परित्रं गुहाशयं सम्यगुशन्ति विप्राः।
स श्रेयसा चाऽभ्युदयेन चैव सम्यक् प्रयुक्तः पुरुषं युनक्ति।'[१]

आचार्य पाणिनि ने शब्द को गुहा स्थित माना है, जिसके लिये उन्होंने 'गुहाशय' पद का प्रयोग किया है। शब्द का 'गुहा' में स्थित होना ऋग्वेद के एक मन्त्र से भी स्पष्ट होता है, जिसकी व्याख्या महाभाष्यकार ने सुष्ठु प्रकारेण की है—

'गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति।'[२]
(गुहायां त्रीणि निहितानि नेङ्गयन्ति = न चेष्टन्ते, न निमिषन्तीत्यर्थः)

उपर्युक्त संकेतों से स्पष्ट होता है कि आचार्य पाणिनि को स्फोटवाद अथवा शब्दतत्त्व भली प्रकार से विदित था, जो यदा कदा सूत्र रचना तथा

१. पाणिनीय शिक्षा सूत्राणि-१.१.
२. महाभाष्य १.१.१. (पस्पशाह्निक)

व्युत्पत्ति आदि के क्रम में परिलक्षित हो जाता है। उन्होंने शब्द तथा ध्वनि के ही सम्मिलितार्थ को स्फोट रूप में देखा है।

भर्तृहरि के मत में स्फोट

'स्फोट' का जो संकेत महाभाष्य में उपलब्ध होता है, उसी विषय का एक सुव्यवस्थित तथा विकसित दार्शनिक रूप भर्तृहरि ने महाभाष्यदीपिका तथा वाक्यपदीय में प्रस्तुत किया। विभिन्न दर्शनों का प्रभाव वाक्यपदीय में स्थान-स्थान पर परिलक्षित होता है। भर्तृहरि ने शब्द-ब्रह्म को एक अद्वैत सत्ता के रूप में स्वीकार किया है, उससे ज्ञात होता है कि भर्तृहरि अद्वैत वेदान्त से प्रभावित थे।

प्रो० सुब्रह्मण्यम अय्यर के शब्दों में उनकी अद्वैत-वादिता स्पष्ट होती है—

"In Bhartṛhari we see not only a Vaiyākaraṇa, but also an Advaitin, one who believes in Śabdādavita and Sattādvaita."[1]

वाक्यपदीयकार ने स्फोट को न केवल शब्द के रूप में ही देखा है, जो महाभाष्यकार का मूल विचार था, अपितु स्फोट को शब्द-तत्त्व तथा शब्दब्रह्म के रूप में भी देखा है। वे तो इस समस्त वाक् जगत् को शब्द-तत्त्व का ही विवर्त मानते हैं जो अर्थरूप में परिलक्षित होता है—

"अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः।'[२]

यही शब्द-ब्रह्म विवर्तभाव को प्राप्त होकर, अनेकत्व को प्राप्त करके (पदार्थ-भेद) से स्वयं ही भोक्ता, भोक्तव्य तथा भोग रूप से उपस्थित होता है—

'एकस्य सर्वबीजस्य यस्य चेयमनेकधा
भोक्तृभोक्तव्यरूपेण भोगरूपेण च स्थितिः।'[३]

---

१. The Doctrine of Sphota, p.122. JGRI
२. वाक्यपदीय १.१.
३. वही १.४.

वाक्यपदीयकार ने एक उद्धरण का उल्लेख किया है, जिसका तात्पर्य है कि वह ब्रह्म शब्द ही है, सब कुछ शब्द से निर्मित है, सबका मूलाधार शब्द ही है। शब्दमात्राओं से ही सबका विवर्त होता है।[१] शब्द ही रूपादि के रूप में विवर्त को प्राप्त होता है। शब्द का स्वरूप दो प्रकार का होता है—एक ध्वन्यात्मक तथा दूसरा अर्थमय स्वरूप, जिसको स्फोट कहा जाता है। ध्वनि को वाक्यपदीयकार ने शब्द का निमित्ति माना है और दूसरा, स्फोट अर्थ के लिये प्रयुक्त होता है—

'द्वावुपादानशब्देषु शब्दौ शब्दविदो विदुः
एको निमित्तं शब्दानामपरोऽर्थे प्रयुज्यते।'[२]

'उपादान शब्दों से अभिप्राय वाचक शब्दों से है अर्थात् सार्थक शब्दों में ही ध्वनि तथा स्फोट व्यक्त होते हैं। वाक्यपदीयकार ने स्फोट से अभिप्राय उसके ध्वनिहीन स्वरूप से लिया है, किन्तु ध्वनि के विना स्फोट का ग्रहण भी नहीं हो सकता—'अध्वनिकः स्फोटः इत्युक्तं भवति, ननु च ध्वनिमन्तरेण स्फोंटस्योपलब्धिरेव नास्ति।[३]

'ध्वनिना तु संसृष्टं स्फोटस्य स्वरूपमुपलभ्यते।'[४]

स्फोट अक्रम होता है, क्रम तो ध्वनि में होता है तथा वह ध्वनि के कारण ही क्रमवान् सा प्रतीत होता है—

'नादस्य क्रमजन्मत्वात् न पूर्वो नापरश्च स
अक्रमः क्रमरूपेण भेदवानिव जायते।'[५]

डॉ० जी० मरुलसिद्धैया ने प्रस्तुत सन्दर्भ में इस प्रकार विवेचन प्रस्तुत किया है— "The Sphota is essentially one and without divisions. Variety attributed is due to different places

---

१. वाक्यपदीय १.१.
२. वाक्यपदीय १.४४.
३. महाभाष्यदीपिका १.१.२.१. सूत्र
४. वाक्यपदीय १.७६, 'हरि वृत्ति
५. वाक्यपदीय १.४८.

and means for its manifestations. It is one and indivisible."[1]

स्फोट की स्थिति मयूर के अण्डे के समान है, जिस प्रकार मयूर सूक्ष्म रूप में अण्डे में स्थित होकर क्रियारहित हो ज़ाता है, अर्थात् उसकी समस्त क्रियायें अण्डे में अन्तर्हित हो जाती हैं तथा अण्डे के बाहर क्रियायें दृष्टिगत होती हैं, उसी प्रकार शब्द का क्रम स्फोट के बुद्धि में स्थित होने के कारण परिलक्षित नहीं होता तथा ध्वनि का ग्रहण होने पर ही वह क्रमवान् रूप में बाहर आता है—

'आण्डभावमिवापन्नो यः क्रतुः शब्दसंज्ञकः
वृत्तिस्तस्य क्रियारूपा भागशो भजते क्रमम्।'[२]

वाक्यपदीयकार ने स्फोट की अभिव्यक्ति में प्राकृत ध्वनि तथा वैकृत ध्वनि का ग्रहण किया है। करणसंघात से जो ध्वनि उत्पन्न होती है तथा उससे जो ध्वनि उत्पन्न होती है, जो विशेष शब्दतत्त्व का परिज्ञान कराती है, वह प्राकृत ध्वनि है। प्राकृत ध्वनि ही नाद है, ह्रस्वादि काल प्राकृत ध्वनि के ही द्वारा होता है तथा बाह्य द्रुतादि भेदयुक्त काल-व्यवस्था वैकृत ध्वनि के द्वारा होती है[३] वैकृत ध्वनि से अर्थ की उपलब्धि नहीं होती, क्योंकि यह ध्वनि प्राकृत ध्वनि की गूंजमात्र होती है। स्फोट की प्रक्रिया इस प्रकार है कि ध्वनि से उद्बुद्ध शब्द, अन्त्य ध्वनि के स।थ, अनेक आवृत्तियों के द्वारा परिपक्वता को प्राप्त करके बुद्धि में ग्रहण होता है—

'नादैराहितबीजायामन्त्येनध्वनिना सह, आवृत्तपरिपाकायां बुद्धौ शब्दोऽवधार्यते।'[४]

प्रो० कुञ्जुन्हिराजा ने वाक्यपदीय के अभिप्राय को इस प्रकार स्पष्ट किया है कि ध्वनि से शब्दज्ञान अनिश्चित स्थिति की ओर होता है। यह प्रत्यय पूर्ण अज्ञान से प्रारम्भ होकर किञ्चित् ज्ञानमय होता हुआ सम्पूर्ण ज्ञान को प्राप्त कर लेता है[५] स्फोट ग्रहण में प्रथमतः वर्ण, पद, वाक्यादि

---

१. Sabdavrtti, p.95
२. वाक्यपदीय १.५१.
३. वाक्यपदीय १.१०२
४. वही १८५
5. Indian Theories of meaning, p.125.

का ग्रहण होता है तथा बाद में अखण्ड स्फोट का—यथा, दूर से अन्धकार के कारण वृक्ष हाथी के समान प्रतीत होता है तथा रज्जु सर्प के समान, किन्तु प्रकाश में आने पर वस्तु के विषय में वास्तविक ज्ञान हो जाता है[१] वाक्यपदीयकार ने इस समस्त जगत् की सृष्टि शब्द से ही मानी है तथा संसार को उत्पन्न करने वाली वाच्यवाचक भाव रूप शक्ति शब्द में ही आश्रित है—

'शब्देष्वेवाश्रिता शक्तिर्विश्वस्यास्य निबन्धनी।[२]

प्रारम्भ में जगत् की सृष्टि शब्द से ही स्वीकार की गयी है—

'शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नायविदो विदुः,
छन्दोभ्य एव प्रथममेतद्विश्वं व्यवर्तत।'[३]

ब्रह्म को शब्दस्वरूप मानने का मूल आधार यह सिद्धान्त है कि विकार अपनी प्रकृति से संसृष्ट होते हैं, वाक्यपदीयकार ने अपनी टीका में इस प्रकार कहा है—'तत्तु (ब्रह्म) भिन्नरूपाभिमतानामपि विकाराणां प्रकृत्यमन्वयित्वाच्छब्दोपग्राह्यतया शब्दोपग्रहितया च शब्दतत्त्वमित्य भिधीयते।'[४]

अर्थात् भिन्न स्वरूप वाले विकार भी अपनी प्रकृति से ही उत्पन्न होते हैं, अतः भिन्न स्वरूप वाले शब्द भी शब्द ब्रह्म से ही संसृष्ट होते हैं।

उपुर्यक्त स्फोट सम्बन्धी विवरण का अध्ययन करने से स्पष्ट हो जाता है कि वाक्यपदीयकार की शब्द-अर्थ, स्फोट, ध्वनि, नाद तथा शब्द सृष्टि के विषय में बड़ी स्पष्ट धारणा थी। यह समस्त जगत्-सृष्टि शब्द का ही विवर्त है। निष्कर्षतः, शब्द-ब्रह्म इस समस्त शब्द सृष्टि का कारण है, समस्त जगत् उस ब्रह्म में ही लीन हो जाता है, पुनः सृष्टि उस शब्द-ब्रह्म से ही उद्‌भूत होती है। अतः व्याकरण-दर्शन का शब्दसृष्टिवाद अद्वैत वेदान्तियों के सृष्टिवाद के ही समान दर्शन-क्षेत्र में महत्वपूर्ण स्थान पर पहुंचा।

---

१. वाक्यपदीय १८९
२. वही १.११८
३. वही १.१२०
४. वही 'हरिवृत्ति'

स्फोट के विषय में परवर्ती वैयाकरणों का मत

वाक्यपदीयकार ने स्फोट के विषय में जितना विस्तार से विवेचन किया, परवर्ती वैयाकरणों ने उसी को अपनाकर विषय में परिवर्द्धन किया तथा परिणामतः उन्होंने इसे एक वाद के रूप में अथवा एक सिद्धान्त के रूप में व्याकरण-सम्प्रदाय में ही नहीं, अपितु समस्त दर्शन-सम्प्रदायों में भी एक उच्च आसन पर आसीन कर दिया तथा पृथक् रुप से 'स्फोटवाद' की स्थापना इन्हीं अर्वाचीन वैयाकरणों की देन है। अतः विद्वानों, टीकाकारों तथा अन्य विद्वानों के स्फोटसम्बन्धी विचारों का दिग्दर्शन कर लेना प्रसंगानुकूल होगा। नागेशभट्ट ने स्फोट की परिभाषा इस प्रकार की है कि पद, वाक्य का एकीकृत ज्ञान ही स्फोट की सत्ता में प्रमाण है—'इदमेकं पदं एकं वाक्यमिति प्रत्ययः स्फोटसत्त्वे तदैक्ये च प्रमाणम्।'[१] चूंकि पद अथवा वाक्य एक ईकाई के रूप में प्रस्तुत होते हैं, अतः स्फोट का स्वरूप स्वतः सिद्ध हो जाता है। भट्टोजिदीक्षित ने स्फोट शब्द की व्युत्पत्ति दी है— **'स्फुटत्यर्थोऽस्मादिति स्फोटः'**[२] अर्थ जिससे प्रस्फुटित होता है, अतः समस्त शब्द जगत् इसी स्फोट का ही परिणाम है। कैयट तथा नागेश, दोनों विद्वानों ने स्फोट व ध्वनि के सिद्धान्त को **'ध्वनिः स्फोटश्च शब्दानां'** की व्याख्या करते हुये स्पष्ट किया है कि ध्वनि व स्फोट, दोनों का परस्पर व्यंङ्ग्य-व्यंञ्जक सम्बन्ध है, ध्वनि स्फोट का व्यञ्जक है, शब्द व्यङ्ग्य है, उसकी व्यञ्जक ध्वनि में वृद्धि व ह्रास होते हैं, उससे व्यङ्ग्य स्फोट में कोई अन्तर नहीं पड़ता, स्फोट काल भेद से रहित है—**'...ध्वनिः स्फोटश्चेति व्यञ्जको व्यङ्ग्यश्चेत्यर्थः शब्दानां व्यङ्ग्यानां सम्बन्धी व्यञ्जकत्वेन यो ध्वनिः स एव महानल्पश्च लक्ष्यते, व्यङ्ग्यस्त्वभिन्नकाल एवेत्यर्थः।'**[३]

'एक एव स्फोटस्तत्तद्वर्णैस्तत्तद्रूपेणाभिव्यज्यते।'[४]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि दोनों ही वैयाकरण वाक्यपदीयकार द्वारा दिये गये स्फोट सम्बन्धी विवरण से पूर्णतया प्रभावित थे।

---

१. महाभाष्यप्रदीपोद्योत १.१.१

२. शब्दकौस्तुभी 'स्फोटनिरूपणम् पृ० १०

३. महाभाष्य १.१.१.७० सूत्र 'प्रदीप'

४. महाभाष्य १.१.१.सूत्र 'उद्योग'

एक अन्य स्थान पर नागेशभट्ट ने अपना अभिमत प्रस्तुत किया है कि वह स्फोट वर्ण, वाक्य में भी अखण्ड भाव से उसी प्रकार विद्यमान रहता है यथा एक ही मुख मणि, दर्पण, कृपाण आदि में दीर्घ तथा वर्तुलाकार धारण किया हुआ-सा प्रतीत होता है—"यथा च मुखे मणिकृपाणदर्पणव्यञ्जकोपाधिवशात् दैर्घ्यवर्तुलत्वादि भानं तद्वत्।'[१] यह भेद उपाधि के कारण है, वस्तुतः भेद नहीं है, यथा-आकाश एक ही है किन्तु पात्र के भिन्न हो जाने से, यथा घट में अथवा मठ में वह आकाश घटाकाश तथा मठाकाश-भिन्न रूप को ग्रहण किया हुआ सा प्रतीत होता है। नागेशभट्ट पुनः कहते हैं कि चेतन एक ही है किन्तु जीव में एक चेतना तथा ईश्वर में दूसरी का आभास होता है, इसी प्रकार स्फोट में भी एक ही व्यञ्जक ध्वनि 'क' तथा 'ग' के रूप में भेद-व्यवहार से भिन्न जान पड़ती है।[२]

नागेश भट्ट ने स्फोट के दो रूप दर्शाये हैं—एक आन्तर रूप तथा दूसरा बाह्य रूप। इनमें पदादि आन्तररूप स्फोट ही मुख्य है और यही अर्थ का वाचक है तथा बाह्य स्फोट जाति व्यक्ति भेद से दो प्रकार का माना है।[३] पुण्यराज ने भी यही भेद माना है। उनके मत में शब्द का एक अनवयव स्वरूप व्यक्तिस्फोट का प्रतीक है तथा एक खण्ड व्यक्तिस्फोट अथवा जाति-स्फोट को वाचक रूप में स्वीकार किया है।[४]

"अनेन 'एकोऽनवयवः शब्दः' इत्युद्दिष्टस्य व्यक्तिस्फोटस्य स्वरूपमिति बोध्यम्।'[५]

हेलाराज ने अभ्यास के आधार पर स्फुट, स्फुटतर रूप में चरम बुद्धि में स्फोट तत्त्व की झलक मानी है—

'चरमचेतसि चकास्ति रत्नतत्त्ववत् स्फोटत्वम्।'[६]

बाद के वैयाकरणों ने जातिस्फोट को ब्रह्म पद तक पहुंचा दिया,

---

१. परमलघुमञ्जूषा, 'स्फोटविचार', पृ० ७२
२. परमलघुमञ्जूषा, 'स्फोटविचार', पृ० ७२
३. वैयाकरण सिद्धान्त मञ्जूषा, 'स्फोटनिरूपणम्', पृ० २०१
४. वाक्यपदीय २.१.'टीका'
५. वही २.१९ 'ठीका'
६. वाक्यपदीय ३.१.६. 'टीका'

वह शब्द ब्रह्म ही उपाधि ग्रहण से (ध्वन्यादि) वाच्य तथा वाचक रूप में प्रकट होता है।[१] कैयट ने भी व्यवहार-नित्यता के आधार पर ब्रह्म-तत्त्व को नित्य माना है, वही ब्रह्म-तत्त्व वर्ण, पद, वाक्यस्फोट अथवा जातिस्फोट रूप में विद्यमान रहता है—

"तच्च ब्रह्मतत्त्वं परमार्थतो नित्यम्, व्यवहारनित्यतया,
वर्णपदवाक्यस्फोटानां नित्यत्वम् जातिस्फोटस्य वा।'[२]

परवर्ती वैयाकरणों ने वर्ण, पद, वाक्य आदि सभी को स्फोट माना है, जबकि भर्तृहरि ने अखण्डवाक्य स्फोट माना है। अत: व्यावहारिक दृष्टि से विद्वानों में स्फोट आठ भागों में माना जाने लगा—

१. वर्णस्फोट २. पदस्फोट ३. वाक्यस्फोट ४. अखण्ड पदस्फोट, ५.अखण्ड वाक्य स्फोट ६.वर्णजातिस्फोट ७.पदजातिस्फोट तथा ८.वाक्यजातिस्फोट।

सविस्तार विवेचन के पश्चात् भट्टोजिदीक्षित ने कहा है कि वस्तुत: वाचकता स्फोट में ही है— **'वस्तुतस्तु वाचकता स्फोटैकनिष्ठा।'[३]**

कौण्डभट्ट वाक्य-स्फोट को मुख्य मानते हैं—

'वाक्यस्फोटोऽतिनिष्कर्षे तिष्ठतीति मतस्थितिः।'[४]

वैयाकरणों ने वाक् के चार भेद निश्चित किये हैं—परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी तथा इनके स्थानविशेषों का भी निर्देश किया है—

'परावाङ्मूलचक्रस्था पश्यन्ती नाभिसंस्थिता,
हृदिस्थिता मध्यमा ज्ञेया वैखरीकण्ठदेशगा।'[५]

नागेशभट्ट ने मध्यमा वाक् को स्फोट का प्रतिनिधि माना है—

---

१. शब्दकौस्तुम 'स्फोटनिरूपंणम्', पृ० ८
२. महाभाष्य १.१.२८ सूत्र 'प्रदीप'
३. शब्दकौस्तुभ, 'स्फोटनिरूपणम्', पृ०८
४. वैयाकरणभूषणसार ५९
५. परमलघुमञ्जूषा, पृ० २३

'तत्र मध्यमायां यो नादांशः तस्यैव स्फोटात्मानो वाचकत्वेनाक्षतिः।'[1]

स्फोट को ही वैयाकरणों ने शब्द ब्रह्म, ओंकार प्रणव आदि नामों से जाना है। नागेश भट्ट का उद्धरण प्रसंगोचित होगा कि वह स्फोट आन्तरप्रणव का ही रूप है, स्पर्श, ऊष्म आदि से अभिव्यक्त होकर यह वाक् नाना रूप धारण करती है—'स चायं स्फोट आन्तरप्रणव एव-ओंकार एव सर्वा वाक् सैषा स्पर्शोष्मभिर्व्यज्यमाना बह्वी नानारूपा भवति इति श्रुतैः बह्वी वाक्यपदादि रूपा नानारूपा घटपटादिरूपा च।'[2]

विभिन्न दर्शन-सम्प्रदायों के अनुसार स्फोट

स्फोट विषय को लेकर सभी दार्शनिकों ने अपने-अपने विद्वत्तापूर्ण विचार स्थापित किये हैं, परिणामतः विभिन्न दर्शन-सम्प्रदायों में शब्द व स्फोट के सम्बन्ध में पृथक्-पृथक् विचारधारायें ही प्रवाहित हो गयीं। अतः स्फोट के स्वरूप के विषय में विभिन्न दर्शनों में उपलब्ध सामग्री का अध्ययन करके स्फोट के स्वरूप का अवलोकन किया जा सकता है।

बौद्ध मत

बौद्ध दार्शनिक तो शब्द ज्ञान में 'अपोह' को ही मुख्य मानते हैं। शब्द का प्रत्येक वर्ण भिन्न अर्थ देता है, किन्तु एक शब्द में समाविष्ट होने के कारण वे भिन्न वर्ण भी सम्मिलित होकर एक ही अर्थ का ज्ञान कराते हैं, इस अर्थ का ग्रहण अन्य अर्थों की निवृत्ति के होने पर ही होगा। कुमारिल भट्ट ने 'अपोहवाद' पर विस्तार से विवेचन प्रस्तुत किया। पार्थसारथि मिश्र ने माना है कि अत्यन्त विलक्षण पदार्थों में सादृश्य या सामान्य का बोध उसमें अन्य की व्यावृत्ति से देखा जाता है। प्रमाणवार्त्तिक के एक उद्धरण से वे स्पष्ट करते हैं कि शब्द वस्तु की सत्ता का बोध नहीं कराते हैं अपितु तदभिन्न की व्यावृत्ति का ही बोध कराते हैं।—

'यद्रूपं शाबलेयस्य बाहुलेयस्य नास्ति तत्
अतद्रूपपरावृत्तिर्द्वयोरपि न भिद्यते।'[3]

---

१. परमलघुमञ्जूषा पृ० १८०
२. वैयाकरणसिद्धान्तमञ्जूषा, 'स्फोटनिरूपणम्', पृ० २६९
३. प्रमाणवार्त्तिक, ३, १३९-४०

बौद्धाचार्यों के अनुसार स्फोट की सत्ता को स्वीकार नहीं किया गया है। नैयायिकों के समान ही 'अपोहवाद' की सत्ता मानने पर स्फोट की सत्ता स्वीकारी नही जा सकती, क्योंकि स्फोट नित्य माना गया है जबकि बौद्ध पदार्थ को असत् मानते हैं। बौद्ध आचार्यों ने स्फोटविषय को लेकर कुछ चर्चा की हो, ऐसा विवरण उपलब्ध नहीं होता, ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने स्फोट को अपौरुषेय माना है।

डॉ० रामसुरेश त्रिपाठी की अधोलिखित पंक्तियां बौद्ध मत में स्फोट तत्त्व को स्पष्ट कर देती हैं—'ऐसा जान पड़ता है कि उनके सामने स्फोटवाद वर्ण से अतिरिक्त एक आनुपूर्वी के रूप में और अपौरुषेय के रूप में था। आनुपूर्वी उनके मत में, अतद्रूप में तद्रूप की कल्पना मात्र है, बुद्धि का एक विभ्रम है।'[१]

मीमांसा मत

मीमांसा दर्शन के अनुसार अर्थग्रहण वर्ण तथा पद से होता है। मस्तिष्क में पूर्ववर्त्ती सभी वर्णों का प्रभाव रहता है, उसी की सहायता से पद का अन्तिम वर्ण अर्थ-प्रत्यायन में सहायक सिद्ध होता है। शबर स्वामी के अनुसार—

'पूर्वपूर्ववर्णजनितसंस्कारसहितोऽन्त्यो वर्णः प्रत्यायकः इत्यदोषः।'[२]

इन प्रभावों को उन्होंने संस्कार माना है। वर्णों की नित्यता के सम्बन्ध में डॉ० गौरीनाथ शास्त्री के विचार इस प्रकार हैं— "The Mimāmsakas believe in the eternal and all-pervading character of letters."[३]

मीमांसकों का स्फोट के सन्दर्भ में यह आक्षेप है कि यदि वैयाकरण वाक्य-स्फोट को ही वाचक मानते हैं (उनके अनुसार पदादि वाक्य-स्फोटमें केवल सहायक हैं, वो पृथक् स्फोट का ज्ञान नहीं करा सकते) तो फिर

---

१. संस्कृत व्याकरणदर्शन, पृ० ४७७.

२. शाबरभाष्य १.१.५

३ A Study in the Dialeetics of Sphoṭa, p.17.

प्रसंग, तन्त्र आदि जो शब्द-विशेष हैं, जिनका विस्तृत विवरण वेदादि में उपलब्ध होता है, वे तो निरर्थक हो जावेंगे।[१]

पुण्यराज ने कुमारिलभट्ट का उद्धरण इस प्रकार दिया है कि जितने वर्ण जिस अर्थ के प्रतिपादन में समर्थ देखे जाते हैं, उनको वैसा ही वाचक मानना चाहिये—

'यावन्तो यादृशा ये च यदर्थप्रतिपादने
वर्णा प्रज्ञातसामर्थ्यास्ते तथैवावबोधकाः।'[२]

अतः मीमांसक स्फोट की सत्ता को स्वीकार नहीं करते। वर्णों के संस्कार के बुद्धि में एकत्र होने से अर्थ का ग्रहण होता है।

न्याय-वैशेषिक मत में स्फोट

नैयायिकों ने मीमांसकों के समान वर्ण को नित्य नहीं माना है। शब्द ध्वनित होता है ततः समाप्त हो जाता है और जब शब्द ही अनित्य है तब स्फोट जैसी नित्य वस्तु को कैसे स्वीकार किया जा सकता है? जयन्त भट्ट का स्फोट के विषय में मत है कि स्फोट एक प्रत्यय है जो श्रवणेन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य होता है, अर्थात् वह अपने स्वाभाविक रूप में ग्रहण नहीं होता— 'तस्य श्रोत्रप्रत्ययविषयत्वाभावात्।'[३]

चूंकि वर्ण का ही ग्रहण श्रोत्र के द्वारा भली प्रकार होता है, अतः नैयायिकों ने वर्ण को ही अर्थ-प्रत्यायक माना है। नैयायिकों का मत है कि स्फोट का ग्रहण बुद्धि द्वारा होता है—

'तदेव हि सर्वजनीनमानसप्रत्यक्षप्रवेदनीयं
प्रयत्नभेदभिन्ननानाध्वनिप्रत्येकव्यञ्जनीयम् तत्वम्।'[४]

अतः नैयायिकों का अभिमत है कि चूंकि स्फोट का ग्रहण उसके स्वाभाविक रूप में कर्णप्रदेश से नहीं हो सकता, अतः वर्णों को ही

---

१. शाबरभाष्य १.१.५. 'प्रभा'
२. वाक्यपदीय २.६२, ६४
३. न्यायमञ्जरी, प्रमाणप्रकरणम्, पृ० ३५०
४. तत्त्वबिन्दु, पृ० ८

अर्थ-प्रत्यायक माना जाय। यद्यपि अर्थप्रत्यायक वर्णों के पृथक्-पृथक् अर्थ क्रमशः ग्रहण होते हैं, फिर भी उन वर्णों का एक सम्पूर्ण प्रत्यय भी ग्रहण होगा— 'दृश्यते च विनश्वरेष्वपि पदार्थान्तरेषु क्रमानुभूतेषु युगपद् अनुव्यवसायो।'[१]

नैयायिकों ने वर्ण-प्रत्यय पर बल अधिक दिया है, शब्द-बोध जब वर्गों के प्रत्यय से आसानी से हो जाता है फिर स्फोट जैसे तत्त्व को अर्थ प्रत्यय के लिये ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं।

वैशेषिकाचार्यों ने भी वर्णों से अर्थ-प्रतीति मानी है, किन्तु शब्द में सम्मिलित होने पर प्रत्येक वर्ण पृथक् रूप से अर्थ-प्रत्यायन नहीं करवा सकता। प्रत्यय यद्यपि सभी वर्णों में रहता है, तथापि अन्तिम वर्ण के द्वारा ही प्रस्फुटित होता है। शङ्कर मिश्र के अनुसार—

'स च स्फोटो यद्यपि पदभावेनाऽवस्थितेषु
सर्वेष्वेव वर्णेषु तथापि चरमवर्णे स्फुटीभवति।'[२]

वैशेषिकों के अनुसार सङ्केत मात्र से ही वर्ण में अर्थ-ज्ञान हो जाता है फिर स्फोट के असत्त्व होने से स्फोट से अर्थ-प्रत्यय नहीं हो सकता। यथा 'गो' पद में सास्नादिवान् अर्थ में संकेत से ही अर्थग्रहण हो जाता है। यदि वर्ण के अतिरिक्त पदात्मा प्रत्यक्षग्राह्य न हो सके तो स्फोट को स्वीकार किया जा सकता है, किन्तु लोक में यह देखने में आता है कि अर्थज्ञान वर्ण से ही हो जाता है, स्फोट की आवश्यकता ही नहीं होती—

'सङ्केतबलादेव पदादर्थप्रतीतौ किं स्फोटेन सोऽयं स्फोटवादः तुच्छत्वादुपेक्षितः सूत्रकृता।'[३]

अतः कहा जा सकता है कि न्याय-वैशेषिक दोनों ही दर्शन-सम्प्रदाय स्फोट की स्थिति को स्वीकार नहीं करते। उनके मत में शब्द अनित्य है जबकि स्फोट की सिद्धि मानने के लिये उसके नित्यत्व को भी मानना पड़ेगा जो दर्शनद्वय के विचारों से सिद्धान्ततः मेल नहीं खाता, अतः स्फोट की स्थिति अस्वीकार्य है।

१. न्यायमञ्जरी, प्रमाणप्रकरणम्, पृ०
२. उपस्कार २.२.२.
३. उपस्कार २.२.२.

सांख्य-योग मत में स्फोट

वैशेषिक दर्शन के समान ही सांख्य-दर्शनावलम्बी स्फोट की सिद्धि नहीं मानते। उनका मत है कि यदि स्फोट को स्वीकार किया जाता है तो उसकी प्रतीति होनी चाहिये, जोकि नहीं होती। यदि आनुपूर्वी विशेष वर्णसमुदाय से स्फोट अभिव्यञ्जित माना जाता है तो आनुपूर्वीविशेष-विशिष्ट वर्णसमुदाय से ही अर्थ-प्रत्यायकत्व क्यों नहीं स्वीकार कर लिया जाता है। पृथक् से स्फोट की परिकल्पना की आवश्यकता ही नहीं है पुनः उनका विचार है कि यदि स्फोट आनुपूर्वीविशेष-युक्त वर्ण से ग्रहण नहीं किया जाता तो अप्रतीत स्फोट से अर्थ-प्रत्यायकत्व नहीं सम्भव हो सकता, क्योंकि सांख्यवादी 'सत्कार्यवाद' के प्रतिपादक हैं। सत् कारण से ही कार्य की उत्पत्ति हो सकती है।[१] अतः सांख्याचार्यों का मत है कि वर्ण से अतिरिक्त स्फोट की सत्ता नहीं मानी जा सकती—

'प्रतीत्यप्रतीतिभ्यां न स्फोटात्मकः शब्दः।'[२]

प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या में विज्ञानभिक्षु ने इस प्रकार स्पष्ट किया है कि स्फोट प्रत्येक वर्ण से अतिरिक्त कलश के समान अखण्ड एकपद है, कम्बु-ग्रीवा अ.दि अवयवों से अतिरिक्त घटाादि अवयवी के समान वह शब्द विशेष अर्थ को प्रस्फुटित करने के कारण स्फोट कहलाता है। यह शब्द- स्फोट अप्रमाणिक है क्योंकि इसकी प्रतीति नहीं हो पाती। जिस आनुपूर्वी विशेष से युक्त वर्णसमुदाय से वह स्फोट अभिव्यञ्जित माना जाता है, उसी वर्ण समुदाय से ही अर्थप्रत्यायकत्व मानना चाहिये। अज्ञात स्फोट से अर्थ-प्रत्यायन स्वीकार नहीं किया जा सकता जिसकी पृथक् अर्थ-प्रत्यायन शक्ति नहीं है—"आद्ये येन वर्णसमुदायेनाऽऽनुपूर्वीविशेषविशिष्टेन व्यर्था स्फोटकल्पनेत्यर्थ इति।'[३]

योगदर्शन में व्याकरण के समान ही स्फोट को अर्थ का वाचक माना गयौ है। यह स्फोट वर्ण से पृथक् अविभक्त अर्थ स्वरूप का ग्रहण कराता

१. 'असदकरणात्'-सांख्यकारिका, ९

२. सांख्य सूत्र ५.५७

३. वही ५.५७. 'भाष्य'

है। व्यास ने स्फोट-प्रक्रिया का विवरण दिया है कि वाक् वर्णों में अर्थवती होती है, ध्वनि का ग्रहण श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा होता है, पुनः वर्ण तथा ध्वनि पद रूप में होकर नाद के ग्रहण से बुद्ध्यवस्थित, होते हैं—

'तत्र वाग्वर्णेष्वेवार्थवती। श्रोत्रञ्च ध्वनिपरिणाममात्र विषयम्। पदं पुनर्नादानुसंहारबुद्धिनिर्ग्राह्यमिति।'[१]

रामानन्द सरस्वती ने अपनी टीका में स्फोट को दो प्रकार का माना है— एक पद स्फोट तथा दूसरा वाक्यस्फोट— गौरित्येकं पदमिति श्रोत्रग्राह्यः पदस्फोटः, गामानयेत्येकं वाक्यमिति ग्राह्यो वाक्यस्फोटः।'[२]

अतः यह ज्ञात होता है कि जहां सांख्यमतानुयायी स्फोट की सत्ता को अस्वीकार करते हैं, तथा वर्ण से ही अर्थ-ग्रहण कर लेते है, वहीं योग-दर्शन के आचार्य न केवल स्फोट की सत्ता स्वीकार करते हैं, अपितु व्याकरण दर्शन के ही समान स्फोट निरूपण भी प्रस्तुत करते हैं।

मण्डन मिश्र ने वैयाकरणों के सिद्धान्त को आधार मानकर 'स्फोटवाद' का समर्थन किया। उनके मत में अर्थ-प्रत्यय कराने वाला ध्वनियों के अतिरिक्त कोई तत्त्व है जो स्फोट ही है। स्फोटवादियों के पक्ष को प्रस्तुत करते हुये वे कहते हैं कि एक वर्ण, अथवा पद अथवा वाक्य के पृथक्त्व से स्फोट में विभाग नहीं होता। स्फोटग्रहण में वह वाक्यादि अविभक्त रूप में रहता है, यद्यपि ग्रहण क्रम से ही होता है—

'नानेकावयवं वाक्यं पदं वा स्फोटवादिनाम्,
एकत्वेऽपि त्वभिन्नस्य क्रमशो दर्शिता गतिः।'[३]

मण्डन मिश्र स्फोट ग्रहण-प्रक्रिया के सन्दर्भ में कहते हैं कि वक्ता द्वारा उच्चरित शब्द की प्रत्येक ध्वनि से स्फोट परिलक्षित होता है। क्रम इस प्रकार होता है—पहली ध्वनि से शब्द-स्फोट कम ग्राह्य होगा। बाद की प्रत्येक ध्वनि से उसका ग्रहण पुष्टतर होता जाएगा, जिस प्रकार रत्नपरीक्षक

---

१. व्यासभाष्य ३.१७
२. योगसूत्र २.१७ 'मणिप्रभा'
३. स्फोटसिद्धि, २९

रत्न की परीक्षा रत्न को बार-बार देखने से हर बार अधिक अच्छी करता जाता है— 'यथा रत्नपरीक्षिणः परीक्षमाणस्य.....विशेषावात्।'[१]

मण्डन मिश्र स्फोट के सन्दर्भ में वाक्यपदीयकार से प्रभावित थे। मीमांसकों के तर्कों को असिद्ध करने के लिये तथा अपने स्फोट तत्त्व को सिद्ध करने के लिये वे वाक्यपदीय के उद्धरण स्थान-स्थान पर देते हैं।

आधुनिक भाषाविदों के मत में स्फोट

जहां वैयाकरणों तथा दार्शनिकों ने स्फोट को एक दार्शनिक रूप में चित्रित किया, वहां प्राच्य तथा पाश्चात्य भाषा-वैज्ञानिकों ने भाषा-विज्ञान के रंग में रंग कर स्फोट को प्रस्तुत किया। अतः भाषा-शास्त्रियों ने शब्द के रूप को भिन्न भाषा-शास्त्र के रूप में प्रस्तुत किया है। प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् बेटी हाइमन स्फोट-प्रत्यय में क्रिया मुख्य मानते हैं। वाक्य में क्रिया ही सम्पूर्ण वाक्यार्थ को प्रकाशित कर देती है। उनके शब्दों में— "This concept of a predeveloped immanent general potentiality centred in the verb itself gives room for the acceptance of other factors of complex potentialities such as is the sphoṭa."[2]

स्पष्ट है कि श्री हाइमन स्फोट को क्रिया के चारों ओर मानते हैं। फ्रांसीसी विद्वान् एफ०डे० सॉसुरे के langue और parole को स्पष्ट करते हुये प्रो० कुञ्जुन्हिराजा ने महाभाष्यकार द्वारा निरूपित 'स्फोट' तथा 'ध्वनि' ही क्रमशः माने हैं। उनका विचार है कि la parole ध्वनियां हैं। जो कि बाह्य हैं तथा व्यक्तिगत वक्तृ-प्रक्रिया पर निर्भर करती हैं, जबकि la langue मस्तिष्क में अवस्थित रहता है जिसका एक ही स्वरूप होता है।[३]

१. वही १८ पृ० ४३
२. Sphoṭa and Artha, pp.221-22 - Studies in Indology.
३. Indian Theories of Meaning, pp. 104-5. (Cours de Linguistique Generale

अतः स्पष्ट है कि वैयाकरणों के विचार का ही समर्थन करते हुये सॉसुरे ने ध्वनियों को अनित्य (कार्य) माना है, जो प्रत्येक व्यक्ति के प्रयोग करने पर निर्भर रहती हैं, जबकि स्फोट वही रहता है, वह विभिन्न व्यक्तियों के मस्तिष्क में एक सा ही अवस्थित रहता है। प्रों० पी० टी० राजू ने डॉ० राधाकृष्णन् को समर्पित अपने ग्रन्थ में वैयाकरणों की स्फोट-विचारधारा पर प्रकाश डाला है। उनका कथन है कि यह व्याकरण-सम्प्रदाय प्रत्येक शब्द में, यथा-गौ, गृह तथा पुरुष में, स्फोट अथवा जाति का ग्रहण करता है— "This school believes in a sort of universal called sphota for every word like "cow", "horse" and "man".[१] पुनः वे स्पष्ट करते हैं कि यद्यपि ये शब्द विभिन्न व्यक्तियों द्वारा, विभिन्न स्थानों पर, विभिन्न प्रकार से प्रयुक्त किये जाते हैं, किन्तु वे एक ही रूप को ग्रहण करते हैं। उन पदों के वर्ण क्रमशः उच्चरित होते हैं और इसी कारण जाति रूपी शब्द 'स्फोट' की मान्यता सिद्ध होती है। प्रसिद्ध अंग्रेज दार्शनिक तथा लेखक बर्ट्रेन्ड रसल ने भी शब्द को जाति माना है तथा स्फोट को स्वीकार किया है। उनका कथन है कि 'श्वान' शब्द जाति है और जाति मानने से शब्द का प्रयोग दो भिन्न-भिन्न स्थानों पर किया जा सकता है, किन्तु वास्तव में उन दोनों स्थलों पर जाति के दो व्यक्ति प्रस्तुत किये जाते हैं। उनके शब्दों में— "The word 'dog' is a universal just as dog is a universal".[२] परिभाषा से स्पष्ट होता है कि जहां विद्वान् दार्शनिक शब्द में स्फोट को जाति रूप में ग्रहण करते हैं वहां वे जाति में व्यक्ति की सत्ता को भी स्वीकार करते हैं, किन्तु स्फोट-प्रत्यय जाति से ही होता है—यह स्पष्ट है। डॉ० राधाकृष्णन् का अपना मत है कि स्फोट अपने दो रूप शब्द तथा अर्थ के साथ संयुक्त हुआ एक अविभक्त प्रत्यय है— "The sphota is the indivisible idea with its dual form of śabda, word and artha-meaning".[३]

---

१. The Universal in the Western and the Indian Philosophy, p.394.
२. An Inquiry into Meaning and Truth, p.184.
३. The Principal Upaniṣads, p.674.

डॉ० राधाकृष्णन् ने स्फोट की सूक्ष्म विवेचना प्रस्तुत करके संस्कृत व्याकरण-दर्शन के सिद्धान्त का ही प्रतिपादन किया है। इसी प्रकार के विचार प्रो० अय्यर ने उद्धृत किये हैं—

"Sphoṭa is a unity which already exists in the mind of the speaker and he utters the sounds in order to manifest it.'.[1]

अत: स्पष्ट है कि विद्वानों ने व्याकरण की परम्परागत स्फोट प्रणाली—ध्वनि-प्रत्यय को ही अपनाया है। कीथ ने भी स्फोट को ध्वनि से युक्त गूढ़ प्रत्यय के रूप में स्वीकार किया है, जिसकी कार्य-ध्वनियां प्रत्यय के रूप में हैं। उनके विचार इस प्रकार उद्धृत किये जा सकते हैं—

"Sphota is a mysterious entity, a sort of hystatization of sound, of which action sounds are manifestations."[2]

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि सभी भाषाविदों ने स्फोट को व्याकरण-दृष्टि से ही स्वीकार किया है तथा शब्द और अर्थ के स्वरूप को ही स्फोट माना है जो ध्वनि के द्वारा प्रत्यापित होता है। स्फोट एक बौद्धिक प्रत्यय है, जिसका प्रत्यय शब्द का उच्चारण होने पर ध्वनियों के द्वारा होता है। प्रथमत: स्फोट का ग्रहण जाति के रूप में ही होता है, तत: व्यक्ति विशेष का परिज्ञान होता है जिससे सम्बद्ध उस शब्द विशेष का उच्चारण किया गया है, यही भाषाशास्त्रियों की धारणा है।

---

१. Bhartṛhari, p.162.
२. A History of Sanskrit Literature, p.387.

द्वितीय अध्याय

'काल'

'कालेभूतिमसृजत् काले तपति सूर्यः
कालो हि विश्वा भूतानि काले चक्षुर्विपश्यति
कालादापः समभवन् कालाद् ब्रह्म तपोदिशः
कालेनोदेति सूर्यः काले निविशते पुनः।'[१]

वैदिक काल से ही काल को परमदेव के रूप में माना गया है। काल ही स्रष्टा है, उसी में सब कुछ प्रतिष्ठित है। ईश्वर द्वारा रचित संसार की प्रत्येक वस्तु उस नित्य विभु की अनेकों शक्तियों से समन्वित है जिसमें काल भी एक शक्ति के रूप में माना गया है। जगत् की प्रत्येक क्रिया काल से प्रभावित है, कोई भी क्रिया काल से व्यतिरिक्त नहीं हो सकती। मनुष्य धर्मार्थकाममोक्षमय चार पुरुषार्थों की सिद्धि के लिये उनसे युक्त क्रियायें करता है, अतः उन सभी क्रियाओं की प्रवर्त्तना किसी काल में ही होगी, क्योंकि काल से पृथक् क्रिया नहीं हो सकती। मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन-जन्म से लेकर मृत्यु तक काल से प्रभावित है। दिवस, ऋतुयें, वर्ष आदि सभी काल द्वारा ही संचालित हैं अन्यथा जीवन की कल्पना ही नहीं की जा सकती। प्रत्येक वस्तु में जो सम्बन्ध दीख पड़ता है, वह काल के ही कारण है, उस परिवर्तन का जो पूर्वापर सम्बन्ध है वह भी काल के ही कारण है।

यास्क ने जो छह भाव-पदार्थों का विवरण दिया है,[२] जो प्रत्येक वस्तु में, मनुष्य के स्वयं के जीवन में दृष्टिगत होता है, उस सबका कारण काल ही है। कोई भी भाव उत्पत्ति से लेकर समाप्ति तक विभिन्न परिस्थितियों में रहता है, यथा—उसमें परिवर्तन आता है, वृद्धि होती है और फिर वह क्षीण हो जाता है। समाप्त होने के पश्चात् वह फिर से अपनी पूर्वावस्था

---

१. अथर्वसंहिता १९.५३.६. १९. ५४.१.

२. जायते, अस्ति, विपरिणमते, वर्धते, अपक्षीयते, विनश्यति इति। निरुक्त, १.१.१.

अभाव को प्राप्त हो जाता है। जितने समय वह दृष्टिगत रहा और जिन विभिन्न अवस्थाओं से वह प्रभावित रहा, वे अवस्थायें काल द्वारा ही संचालित हैं, उस अभावावस्था में भी वह भाव काल के गर्भ में ही छिपा है। श्वेताश्वतरोपनिषद् का प्रस्तुत मन्त्र इसी काल-प्रपञ्च की ओर संकेत करता है—

'कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा
भूतस्य योनिः पुरुष इति चिन्त्या।'[१]

New Encyclopaedia of Philosophy में काल के विषय में इस प्रकार विवरण दिया गया है— "Time presents itself as a continum that from the past, via the present flows towards the future."[२]

अर्थात् काल भूत से वर्तमान में होकर भविष्य की ओर एकक्रम में प्रवाहित होता रहता है। यह पूर्वापंर सम्बन्ध किसी एक क्रिया से सम्बद्ध नहीं है, अपितु नित्य है। यह पूर्वापर सम्बन्ध प्रत्येक क्रिया में, प्रत्येक स्थिति में होता है, यही सार्वलौकिकता है, यही काल का व्यापार है। वाचस्पत्यम् कोष में इसको नियन्ता माना गया है—'कलयति सर्वम्।'[३] कोष में आचार्य पाणिनि का उद्धरण प्रस्तुत सन्दर्भ में दिया गया है—'कालः समयवेलासु' अर्थात् काल को समय मापने के अर्थ में प्रयोग किया गया है। अमरकोष में 'काल' शब्द का प्रयोग धर्मराज यमराज के लिये किया गया है—

'कालो दण्डधरः श्राद्धदेवो वैवस्वोन्तकः।'[४]

जो समाप्त करता है, वह काल के रूप में माना गया है। व्याख्या में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—

"कलयत्यायुरिति, कल्यत इति वा कालः।"[५]

तात्पर्य यह है कि काल में जगत् के समस्त पदार्थों को सञ्चालित करने तथा आत्मसात् करने की शक्ति है।

---

१. श्वेताश्वरोपनिषद् १.२.
२. New encylopaedia of Philosophy, p.439
३. वाचस्पत्यम् कोष, 'काल, पृ० १९८२
४. अमरकोष, प्रथमं काण्डम्, स्वर्गवर्गः ५९
५ वही

काल के सन्दर्भ में अन्य प्रसंग भी उपलब्ध होते हैं—

"कालोऽन्यः कलनात्मकः।'[१]

"कालः कलयतामहम्।[२]

ये प्रयोग गति व संख्यात अर्थ में किये गये हैं। काल गतिकर्मा है, अतः इसका व्युत्पत्तिमूलक अर्थ 'गति' सटीक है, पाणिनीय धातुपाठ में 'कल' शब्द के अनेक अर्थ दिये गये हैं, यथा—शब्दसंख्यानयो', 'कल क्षेपे', 'कलगतौ', 'संख्याने'।[३]

अतः इन विवरणों से काल का गति-सम्बन्धी अर्थ स्पष्ट हो जाता है, दर्शन-ग्रन्थों में काल की विवेचना दार्शनिक रूप में की गयी है। व्याकरणाचार्यों में भर्तृहरि ने तो काल को ब्रह्म की पृथक् स्वतन्त्र शक्ति के रूप में स्वीकार किया है। आचार्य पाणिनि ने काल के सम्बन्ध में कुछ दार्शनिक दृष्टिकोण प्रस्तुत किये हों—ऐसे प्रमाण उपलब्ध नहीं होते किन्तु काल के पारिभाषिक अर्थ तो उपलब्ध हो जाते हैं। महाभाष्यकार ने काल को एक नित्य तत्त्व माना, जिससे पदार्थों में परिवर्तन तथा वृद्धि होती है। महाभाष्य में अनेक काल-सम्बन्धी उद्धरण दार्शनिक दृष्टिकोण से समन्वित प्राप्त होते हैं। महाभाष्य के इन्हीं दार्शनिक तत्त्वों के आधार पर विद्वान् इस विषय में सर्वसम्मत हैं कि भर्तृहरि का जो व्याकरण-सम्बन्धी परिपक्व दार्शनिक पहलू उपलब्ध होता है, जिसके आधार पर संस्कृत व्याकरण-दर्शन को पृष्ठभूमि प्राप्त हुयी और इसी आधार पर संस्कृत व्याकरण-दर्शन ने दार्शनिक सम्प्रदायों में एक स्थान प्राप्त कर लिया, इसकी पृष्ठभूमि में महाभाष्य का बहुत बड़ा योगदान रहा है। अतः व्याकरणदर्शन में काल-सम्बन्धी तत्त्व ज्ञात करने से पूर्व महाभाष्य में उसका स्थान ज्ञात करना अत्यावश्यक हो जाता है।

परवर्ती वैयाकरणों ने महाभाष्य के जिस उद्धरण को दार्शनिक दृष्टि से मुख्य रूप से प्रामाणिक माना, वह है—**'येन मूर्त्तीनामुपचयापचयाश्च लक्ष्यन्ते, तं कालमाहुः।'**[४]

---

१. सूर्यसिद्धान्त कोष, १.१०.

२. भगवद्गीता १०.३०.

३. स कलाः कलयन्सर्वाः कालाख्यां लभते विभुः। वाक्यपदीय ३.९.१४.

४. महाभाष्य २.२.१.५. सूत्र

अर्थात् लोक में पदार्थों में जो उपचय (वृद्धि) तथा अपचय (ह्रास) दृष्टिगत होता है, उसका कारण काल ही है। संसार की प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक क्रिया में यह क्रम दृष्टिगत होता है, अर्थात् सर्वप्रथम उपचय होता है-वृद्धि होती जाती है, फिर एक सीमा पर आकर ह्रास प्रारम्भ हो जाता है, यही अपचय है। इस क्रम का नियन्ता काल ही है। कैयट का कथन है कि तरु, तृण, लतादिकों का कभी उपचय होता है और कभी अपचय और जिसके द्वारा यह अन्तर प्रस्तुत किया जाता है, वह काल है—

'तरुतृणलताप्रभृतीनां कदाचिदुपचयः, अन्यथा त्वपचयः।
स प्रत्यान्तराविशेषेऽपि यत्कृतः स काल इत्यर्थः।'[१]

महाभाष्यकार के इसी दृष्टिकोण को वाक्यपदीयकार ने शतशः पुष्ट किया है—

'मूर्त्तीनां तेन भिन्नानामाचयापचयाः पृथक्।
लक्ष्यन्ते परिणामेन सर्वासां भेदयोगिनां।'[२]

तात्पर्य यह है कि प्रकृति की प्रत्येक वस्तु में परिवर्तन होता है वह परिवर्तन वृद्धि के रूप में भी होता है तथा ह्रास के रूप में भी। यदि काल की सत्ता न हो तो वस्तु स्थिर हो जाय। यह संसार-चक्र ज्यों का त्यों ठहर जाय, क्योंकि जीवन-गति काल के ही कारण है। महाभाष्यकार का कथन है कि उस काल का किसी क्रिया से सम्बन्ध होने पर दिन व रात उत्पन्न होते हैं और वह क्रिया है आदित्य की गति और उसी गति की पुनः पुनरावृत्ति होने से मास, संवत्सर आदि होते हैं—**'तस्यैव कयाचित्क्रियया युक्तस्याहरिति च भवति रात्रिरिति च।**[३]

नागेशभट्ट ने इसको इस प्रकार स्पष्ट किया है कि आदित्य की क्रिया आदियों के द्वारा जो भेद-विशेष होते हैं, वे ही उस काल के दिवसादि-विशेष व्यवहार के हेतु हैं और यह काल दिवसादि व्यवहारों के लिये भिन्न-भिन्न रूप ग्रहण करता है—[४] प्रो० सुब्रह्मण्य शास्त्री के शब्दों में महभाष्यकार का अभिमत स्पष्ट होता है—

१. वही 'प्रदीप'
२. वाक्यपदीय ३.९.१३
३. महाभाष्य २.२.१.५. सूत्र
४. वही २.२.१.५ सूत्र 'उद्योत

"They say that Kāla is that when the growth or the decay of bodies is seen. The same, in association with some action get the name of day and night."[1]

महाभाष्यकार ने काल को पदार्थों का नियन्ता ही नहीं माना है, अपितु काल को नित्य भी स्वीकार किया है—

'नित्ये हि कालनक्षत्रे।'[२]

अर्थात् काल नित्य तत्त्व है, वह लौकिक पदार्थों में उत्पत्ति, वृद्धि आदि के द्वारा क्रम उत्पन्न करके क्रमवान् सा प्रतीत होता है। नागेश भट्ट का अभिप्राय है कि यद्यपि क्षण रूप में काल अनित्य रूप है, तथापि धारा रूप में जो काल व्यवहार्य है, वह काल नित्य है, ऐसा जानना चाहिये—

'यद्यपि क्षणरूपः कालोऽनित्यस्तथापि तद्धारारूपः कालपदव्यवहार्यः, स व्यवहारनित्य इति बोध्यम्।'[३]

डॉ० सत्व्रत शास्त्री ने महाभाष्यकार के कथन का सार प्रस्तुत किया है—

"The division of time into day and night, ... the so-called divisions of time." [4]

महाभाष्यकार काल को नित्य मानते हुये भी काल के तीनों रूप स्वीकार करते हैं—भूत, भविष्यत् और वर्तमान—

'सन्ति च कालविभागाः।

तिष्ठन्ति पर्वताः, स्थास्यन्ति पर्वताः, तस्थुः पर्वताः इति।'.

'इह हि भूतभविष्यद्वर्तमानानां.... याः क्रियास्तास्वति- क्रान्तासु।'[५] तात्पर्य यह है कि सम्प्रति जो क्रियायें हो रही हैं उन्हें वर्तमान काल में मानेंगे, इस वर्तमान काल के पश्चात् जो क्रियायें होंगी, वे भविष्यत् काल में होंगी और वर्तमान से पूर्व जो क्रियायें हो चुकी हैं अर्थात् वर्तमान को

१. Lectures on Patañjali's Mahābhāṣya, Vol.V, p.316

२. महाभाष्य ४.२.१.३. सूत्र

३. महाभाष्य ४.२.१.३. सूत्र 'उद्योत'

४. Conception of time, pp. 159-60. Essays on Indology.

५. महाभाष्य ३.२.२.१२३ सूत्र

जो अतिक्रान्त कर चुकी हैं, उन्हें भूतकाल में हुयी मानेंगे। वर्तमान काल को माना जाय अथवा नहीं, इस विषय पर महाभाष्यकार ने विस्तार से विवेचन प्रस्तुत किया है। 'वर्तमाने लट्' सूत्र की व्याख्या करते हुये उन्होंने विवरण दिया है कि कुछ विद्वान् वर्तमान काल को ही नहीं मानते, उनका तर्क है—'नित्यप्रवृत्ते च कालाविभागात्' जिसकी व्याख्या करते हुये महाभाष्यकार कहते हैं—'इह भूतविष्यत्प्रतिद्वन्द्वौ वर्तमानकाल:। न चात्र भूतभविष्यन्तौ कालौ स्त:।'[१] उनका मत है कि काल के नित्य होने पर काल अविभक्त है, यथा—'तिष्ठन्ति पर्वता:, स्रवन्ति नद्य:'—ये सत् हैं, सर्वदा विद्यमान हैं, कूटस्थ हैं—ये साध्य नहीं हैं, क्रिया-रूप नहीं हैं अत: इनमें वर्तमानत्व का अभाव है और जो नित्य प्रवृत्त है, उसमें भूत-भविष्यत् नहीं होता। जब भूत-भविष्यत् नहीं है तो वर्तमान उन भूत-भविष्यत् का प्रतिद्वन्द्वी होने से वर्तमान काल की भी सत्ता नहीं होगी। कैयट ने व्याख्या की है—

उत्पन्नस्यापि नाशाद्भूतत्वेन भूतभविष्यत्प्रतिद्वन्द्वो वर्तमानो धात्वर्थो नित्यप्रवृतस्य भूतभविष्यत्वाभावाद्वर्तमानत्वाभाव: क्रियारूपश्चाभावश्चेत्यर्थ:।'[२]
वर्तमान काल की सत्ता को सिद्ध करने के सन्दर्भ में महाभाष्यकार उत्तर पक्ष का कथन प्रस्तुत करते हैं—'न्याय्या त्वारम्भानपवर्गात्' अर्थात् वर्तमान काल की सत्ता माननी चाहिये। क्रिया बिना विराम के प्रारम्भ होती है। तात्पर्य यह है कि वर्तमान काल उसको माना जाएगा जिसमें क्रिया का आरम्भ समाप्त न हुआ हो। अत: अध्ययन जब तक समाप्त नहीं होगा, वह वर्तमान काल में रहेगा और उस क्रिया के मध्य हो रही अन्य क्रियाओं को भी वर्तमान काल में मानना पड़ेगा, वार्त्तिक इस प्रकार है—

'अस्ति च मुक्तसंशये विराम:।'[३]

आक्षेपकर्त्ताओं का तात्पर्य यह है कि 'भुङ्क्ते देवदत्त:' दृष्टान्त में भोजन के मध्य हो रहीं अन्य क्रियायें, यथा—देवदत्त का हंसना, बात करते जाना अथवा पानी पीना आदि भी वर्तमान काल में माननी पड़ेगी और चूंकि ये क्रियायें व्यवधान-मात्र हैं, अत: इन्हें वर्तमान-काल में नहीं रख सकते। इस

---

१. महाभाष्य ३.२.२.१२३ सूत्र
२. वही ३.२.२.१२३ सूत्र 'प्रदीप'
३. महाभाष्य ३.२.२.१२३ सूत्र

प्रकार मुख्य क्रिया भी विराम युक्त है अतः वर्तमान काल की सत्ता संशययुक्त है। अभिप्राय यह है कि वर्तमान काल से उसी क्रिया का ग्रहण करेंगे जिसका आरम्भ तो हो गया है, किन्तु जिसका उपरम अभी न हुआ हो। कैयट वर्तमान काल की सत्ता को स्वीकार करने के सन्दर्भ में भर्तृहरि का उद्धरण प्रस्तुत करते हैं कि भोजनादि के मध्य हो रहीं अन्य क्रियायें व्यवधान नहीं हैं नान्तरीयक हैं, भोजन की क्रिया को विना किसी संशय के वर्तमानकाल में रखेंगे, किन्तु उसके मध्य आने वाली अन्य क्रियाओं से कोई व्यवधान नहीं आएगा। तात्पर्य यह है कि अध्ययन आदि क्रियायें जब तक समाप्त नहीं हो जातीं, उन्हें वर्तमान काल में ही मानेंगे—

'व्यवधानमिवोपैति निवृत्त इव दृश्यते,
क्रियासमूहो भुज्यादिरन्तरालप्रवृत्तिभिः।
सादृश्यात्सति भेदे तु तदङ्गत्वेन गृह्यते।'[१]

अतः वैयाकरण वर्तमान काल की सत्ता को स्वीकार करने के पक्षपाती हैं। वर्तमान काल की सत्ता के विषय में महाभाष्यकार ने जो वाद-विवाद प्रस्तुत किया, वह इस बात का द्योतक है कि अन्य दर्शन सम्प्रदायों में भी वर्तमान काल की सत्ता को लेकर चर्चा हुयी, यथा—महाभाष्यकार मीमांसकों का अभिमत प्रस्तुत करते हैं कि सब कुछ कूटस्थ है, क्रियावान् नहीं है तथा व्यापार का कर्त्ता कोई नहीं है—

'न वर्तते चक्रमिषुर्न पात्यते
न स्यन्दते सरितः सागराय।
कूटस्थो यं लोको न विचेष्टितास्ति
यो ह्येवं पश्यति सोप्यनन्धः।'[२]

तात्पर्य यह है कि मीमांसक क्रिया के वर्तमानत्व को स्वीकार नहीं करते हैं, वे उदाहरण के रूप में कहते हैं कि पतन क्रिया का लक्षण ज्ञात होने के लिये अनागत के असत्व होने के कारण तथा अतिक्रान्त के भी असत्व होने के कारण इन दोनों कालों में पतन क्रिया सम्भव नहीं, तथा क्रिया में वर्तमानत्व का अभाव होने के कारण वर्तमान काल नहीं होता।

१. महाभाष्य ३.२.२.१२३ 'प्रदीप'
२. वही

हेलाराज ने प्रस्तुत प्रसंग में कहा है—इदानीं सर्वत्रैव वर्तमानत्वं क्रियाया अनुपपन्नमित्याक्षिपति।'[१]

नागेश भट्ट इस प्रकार मीमांसक मत को स्पष्ट करते हैं कि यदि पतन क्रिया में वर्तमानत्व मानें तो उस क्षण में समस्त लोक के पतन का ग्रहण करना पड़ेगा।[२]

उत्तरपक्ष के विचारों को पुष्ट करते हुये महाभाष्यकार जब कहते हैं-अस्ति वर्तमानः कालः,[३] तो उनकी स्वयं की मान्यता पुष्ट हो जाती है कि महाभाष्यकार ने वर्तमान काल की सत्ता को स्वीकार किया है। महाभाष्यकार ने काल को प्रत्यक्ष न मानकर अनुमेय माना है—

'सूक्ष्मो हि भावोऽनुमितेन गम्यः।'[४]

तात्पर्य यह है कि काल का प्रत्यक्ष दर्शन नहीं होता। अपितु काल से प्रभावित वस्तुओं के द्वारा काल का अनुमान किया जाता है। डॉ० रामसुरेश त्रिपाठी ने महाभाष्यकार के मत को इस प्रकार स्पष्ट किया है—

'जैसे क्रिया का पिण्डीभूत दर्शन सम्भव नहीं है, वैसे ही काल का भी।'[५]

काल के जिस स्वरूप का विवरण महाभाष्यकार ने प्रस्तुत किया है, उससे उनकी मान्यता स्पष्ट होती है कि काल नित्य विभु है तथा वह तीनों रूपों में विद्यमान रहता है--भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान रूप में, अन्यथा काल सदैव विद्यमान रहता है। वह अपने वर्तमान रूप में दृष्टिगोचर होता है तथा वही वर्तमान रूप भूत तथा भविष्यत् रूपों में ज्ञात होता है। काल क्रिया का नियामक है तथा क्रिया के द्वारा ही चिर, क्षिप्र आदि रूपों में दृष्टिगत होता है। महाभाष्यकार ने वर्तमान का एक अन्य रूप प्रस्तुत किया है जो 'वर्तमान-सामीप्ये वर्तमानवद्वा'[६] होता है, यथा-एषोऽस्मि पचन्, एषोऽस्मि

---

१. वाक्यपदीय ३८८५ 'टीका'
२. महाभाष्य ३.२.२.१२३ सूत्र
३. वही
४. महाभाष्य ३.२.२.१२३ सूत्र
५. संस्कृत व्याकरण-दर्शन, पृ० २२४
६. महाभाष्य ३.३.२.१२३ सूत्र

पचमान, अर्थात् वर्तमान काल के सन्दर्भ में हो रहीं क्रियायें वर्तमान कालवत् ही मानी जाएंगी।

डॉ० रामशरण शास्त्री ने इस प्रकार विवरण दिया है—

'पाकार्थे प्रवृत्तः कश्चन पाचकः पाचकस्यैकापि क्रिया यावदवशिष्यते, तावत् कालपर्यन्तं तं कश्चनाऽन्यः किं करोषि इति पृच्छति। स चाऽहं अहमपाक्षमिति ब्रूते।[१]

आशंसा को पतञ्जलि ने भविष्यत् काल में माना है—'**आशंसा नाम भविष्यत्काला।**'[२] कैयट ने आशंसा का अर्थ दिया है—'आशंसा अनागतवस्तुवाञ्छा।'[३] भविष्यत्काल से सम्बद्ध होते हुये भी आशंसा का भूत काल से भी सम्बन्ध है। कैयट का कथन है कि आशंसा में आशायुक्त क्रिया होने के कारण धातु में भूत व वर्तमान के प्रत्यय भी लगते हैं।[४] भूतकाल के विषय में महाभाष्यकार का मत है कि जब कुछ समाप्त हो जाता है वह भूतकाल कहलाता है—

एष च नाम न्याय्योभूतकालः-यत्र किञ्चिदपवृक्तं दृश्यते।'[५]

अर्थात् जहां क्रिया किञ्चिदंश में समाप्त हो जाती है, महाभाष्यकार ने उसको भी भूतकाल में माना है, कैयट की व्याख्या इस प्रकार है—'आदिभूत भूतत्वोपपत्तिरित्यर्थः'[६]—अभिप्राय यह है कि उस आदिभूत क्रिया के समूहरूप में समाप्त होने पर वह क्रिया भूत काल में मानी जाती है।[७]

तात्पर्य यह है कि समूह में एक अवयव का उस समूह का अंग होने से, उस अवयव के समाप्त हो जाने पर वह भूत हो जावेगा। अनद्यतन काल वह है जो आज से भिन्न तथा परोक्ष है—

---

१. पाणिनीय व्याकरण शास्त्रे वैशेषिकतत्त्वमीमांसा, पृ० ५५
२. महाभाष्य ३.३.२.१२३ सूत्र
३. वही 'प्रदीप'
४. वही
५. वही ३.२.१.१०२ सूत्र
६. वही 'प्रदीप'
७. 'समूहः स तथाभूतः प्रतिभेदं समूहिषु
समाप्यते ततोऽभेदे कालभेदस्य सम्भव इति।' महाभाष्य ३.२.१.१०२ सूत्र 'प्रदीप'

'अविद्यमानाद्यतनोऽनद्यतन इति।'[१]

डॉ० रामसुरेश त्रिपाठी का मन्तव्य है—'जब अद्यतन कोई क्रिया समाप्त हुयी रहती है, उसे अद्यतनभूत के रूप में व्यक्त किया जाता है।'[२] महाभाष्यकार ने अद्यतन में भी अद्यतन सम्भव माना है—

'अद्यतनेऽपि हि अद्यतनो विद्यते व्यपदेशिवद्भावेन।'[३]

कैयट का कथन है कि जिस प्रकार आधाराधेयभेद से मुख्य में भेद होता है, उसी प्रकार समुदाय में अवयव के आश्रयभेद से समुदाय अद्यतन में अवयव अद्यतन रहते हैं।[४] अर्थात् सामान्य अद्यतन में मुहूर्त, क्षण आदि के रूप में अद्यतन विशेष रूप में रहता है।

महाभाष्यकार परोक्ष के विषय में भिन्न-भिन्न मान्यतायें प्रस्तुत करते हैं, यथा—कुछ लोग सौ वर्ष के वृत्त को परोक्ष मानते थे तथा कुछ जनों के अनुसार दीवार अथवा कुटी से अन्तरित वृत्त भी परोक्ष था तथा कुछ लोग दो-तीन दिन पूर्व के वृत्त को परोक्ष मान लेते थे—

'केचित्तावदाहुः-वर्षशतवृत्तं परोक्षमिति।
..... अपर आहुः-द्व्यहवृत्तं त्र्यहवृत्तं चेति।'[५]

कैयट ने स्पष्ट किया है कि इन्द्रिय से अगोचरसाधन से साधित सभी अनद्यतन क्रियावाची अर्थ परोक्ष कहलाते हैं—

'ततो यदिन्द्रियात्परामिन्द्रियागोचरतामापन्नं वस्तु तत्परोक्षम्।'[६]

परोक्ष की सिद्धि के सन्दर्भ में महाभाष्यकार का मन्तव्य है कि यदि इन्द्रियों के सक्रिय होने पर भी मन सान्निध्य में नहीं है तो प्रत्यक्ष भी परोक्ष हो जाता है, यथा-शाकटायन रथ मार्ग पर बैठे हुये भी सामने से जाते हुये शकटों को नहीं देख पाये। उद्धरण इस प्रकार द्रष्टव्य है—

---

१. वही ३.२.२.१११ सूत्र
२. संस्कृत व्याकरण-दर्शन, पृ० २३५
३. महाभाष्य ३.२.२.१११ सूत्र
४. वही
५. महाभाष्य ३.२.२.११५
६. वही

मनसा प्रयुक्तानि इन्द्रियाणि उपलब्धौ कारणानि भवन्ति, मनसो सान्निध्यात्।'[१]

नागेश भट्ट का मत है कि जो घटनायें वक्ता के समय में घटित हुयी हैं तथा जो अब अनुभूत नहीं होतीं, वे भी महाभाष्यकार ने परोक्ष मानी हैं, यथा—'अरुणत् यवनः साकेतम् प्रयोग में लङ् लकार है। नागेशभट्ट स्पष्ट करते हैं कि यहां वक्ता के स्थिति काल में यवनों का आक्रमण हुआ था—

'अरुणत् इत्युदाहरणे तु तुल्यकाला प्रवक्तेति बोध्यम्।'[२]

किन्तु अभी वह घटना समक्ष नहीं है अतः परोक्ष है।

काल को महाभाष्यकार ने देवता स्वरूप भी माना है, जब वे महाभारत का प्रस्तुत उदाहरण देते हैं।

'कालः पचति भूतानि कालः संहरति प्रजाः।'[३]

महाभाष्यकार ने काल की शक्ति को स्वीकार किया है। काल ही सर्वशक्तिमान् है, काल ही प्राणियों का पालन करता है और काल ही उनका संहार करता है। काल केवल मिथक देवता ही नहीं है। काल से ही सब कुछ व्युत्पन्न है, जो वर्तमान रूप में रहता है, वही भूतभविष्यत रूप में होने वाला होता है। अर्थात् भूत ही भविष्यत् है तथा भविष्यत् ही भूत।

महाभाष्यकार द्वारा प्रस्तुत विवरण से स्पष्ट होता है कि काल को महाभाष्यकार ने दार्शनिक दृष्टिकोण से समझते हुये ही उसके तीनों रूपों वर्तमान, भूत, भविष्यत् को जिस सूक्ष्म विवेचन के साथ प्रस्तुत किया है, उससे उनके महावैयाकरण होने के साथ-साथ एक महान् दार्शनिक विचारक होने का भी प्रमाण मिलता है।

---

१. महाभाष्य ३.२.२.११५ सूत्र
२. महाभाष्य प्रदीपोद्योत ३.२.११५
३. 'कालःपचतिभूतानि कालः संहरति प्रजाः, निर्दहन्तं प्रजाः कालं कालः शमयेत्पुनः।' महाभारत, १.१.११८, महाभाष्य ३.३.२.१६७ सूत्र

वैदिक ग्रन्थों में काल-दर्शन

वेदों, संहिताओं आदि का अवलोकन करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वैदिक ऋषियों ने न केवल 'काल' की सत्ता को स्वीकार किया, अपितु उसे सर्वशक्तिमान् माना है, काल से सम्बन्धित अनेक उपलब्ध नाम जिस बात के प्रमाण हैं। प्रमाणों से यह स्पष्ट होता है कि वैदिक ऋषियों ने 'ऋत' नामक एक शक्ति की कामना की थी जो सार्वभौम नियम के रूप में थी, ऋतावा (वरुण) कालज्ञ थे, वे बारह महीनों व प्रत्येक मास का ज्ञान रखते थे—

'वेदमासो धृतव्रतो द्वादश प्रजाव्रतः वेदा य उपजायते।'[१]

वैदिक साहित्य में काल एक तत्त्व के रूप में भी स्वीकार किया गया है। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल का बहुचर्चित मन्त्र इस बात का पुष्ट प्रमाण है—

'इयुषीणां उपमा शश्वतीनां आयतीनां प्रथमा।'[२]

मन्त्र का अभिप्राय यह है कि उषा को उनमें अन्तिम माना गया है जो समाप्त हो जाते हैं तथा उनमें प्रथम माना गया है जो सदा उदय होते हैं। विभिन्न ऋतुओं के रूप में भी काल की उत्पत्ति स्वीकार की गयी है—

ऋतूनन्यो विदधाज्जायते पुनः।'[३]

अभिप्राय यह है कि काल के विभाजन का जो वैज्ञानिक स्वरूप विज्ञान तथा दर्शन-सम्प्रदायों में देखने को मिलता है, वह क्रम वैदिक समय में ही अपना जन्म पा चुका था। अनेक ऐसे उद्धरण उपलब्ध होते हैं जिनमें वर्ष, मास, रात्रि-दिवसादि का विवरण मिलता है। ऋषियों ने काल के दार्शनिक तत्त्व को समझ कर उसको अप्राप्य ही नहीं समझा, अपितु उसके विषय में, उसके विभाजन के विषय में भली-भांति चर्चा की, दृष्टान्त के रूप में एक मन्त्र प्रस्तुत है—

---

१. ऋक् संहिता १.२५.८

२. वही २.१२४.२.

३. ऋग्वेद १०.८५.८.

'अहश्च कृष्णं अहरर्जुनञ्च निवर्तते रजसी।'[१]

वैदिक ऋषियों की यह दृढ़ मान्यता रही है कि समस्त लोक काल के गर्भ में ही समाहित हो जाते हैं। यद्यपि काल के लिये पृथक् शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है, अर्थ संकेतित है—

'यत्रेमा विश्वा भुवनानि तस्थुः।'[२]

प्रस्तुत सन्दर्भ में C.D. Board का कथन है— "We can observe only events and must use them as our rate-measures (of time)."[३]

परवर्त्ती वैदिक साहित्य में तो 'काल' को प्रजापति के समकक्ष प्रस्तुत किया गया है, Keith ने इस बात की पुष्टि इस प्रकार की है— "In the Brāhmaṇas Prajāpati is eternally identified with the year, the all creator with the time in which he exercises his eternal process of creation".[4]

काल को चक्र-स्वरुप जो माना गया है, उसी प्रसंग में वैदिक उद्धरण भी उपलब्ध होते हैं। वहां वर्ष को काल के चक्र के रूप में प्रस्तुत किया गया है—

'द्वादशपरं न हि तज्जराय वर्वर्ति चक्रम्।'[५]

यह चक्र कभी न रुकने वाला गतिशील है—

'चक्रं अजरं अनवरम्।'[६]

काल का वर्णन सूर्य के रूप में किया गया है, जिसका रथ एक अश्व के द्वारा खींचा जाता है—

---

१. ऋग्वेद ६.९.१.

२. वही १.१६४.२.

३. Article on Time in Hasting's Enclopaedia of Religion and Ethics, p.339

४. The Religion and Philosophy of the Vedas and Upaniṣads, p.437.

५. ऋग्वेद १६४.११.

६. वही १.१६४.२

'रथं एकचक्रं एको अश्वो वहति।'[१]

काल का आह्वान अनेक संस्कारों में किया जाता था, काल को अनेक देवी, देवताओं से सम्बन्धित माना जाता था। वेदों में काल को पुरुष रूप में भी स्वीकार किया गया है। काल पुरुष से सभी ऋतुयें, चन्द्र-सूर्यादि उत्पन्न हुयें हैं—

'वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद् हविः।'[२]

तथा एक अन्य मन्त्र में पुरुष के स्वरूप का विवरण इस प्रकार दिया गया है—

'पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्।'[३]

वैदिक ऋषियों को काल की सार्वलौकिक सत्ता का पूर्ण ज्ञान था। अथर्ववेद के कतिपय उद्धरणों का अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि ऋषियों ने काल को परम देवता के रूप में ही नहीं, अपितु ईश्वर के पद पर आसीन कर दिया था—

'कालः स ईयते प्रथमो नु देवः।'[४]
'कालो ह सर्वस्येश्वरः।'[५]

उपनिषद् ग्रन्थों में जहां काल को 'कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा'[६] कहकर सर्वशक्ति सम्पन्न माना है, वहीं दूसरी ओर काल को मोह से अतिरिक्त नहीं जाना है—

'कालं तथान्ये परिमुह्यमानाः।'[७]

काल देवों का भी अधिष्ठाता है—

---

१. ऋग्वेद १.१६४.२
२. ऋक् संहिता, पुरुष सूकत १०.९०.
३. वही १०.९०.२.
४. अथर्ववेद १९.५३.१.
५. वही १९.५३.८.
६. श्वेताश्वरतरोपनिषद् १.२.
७. वही ६.१.

'यः करणानि निखिलानि तानि
कालात्मयुक्तान्यधिष्ठित्येकः।'[१]

काल का भी काल माना गया है—'कालकालः।'[२]

मनुस्मृति में काल को नित्य तत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया है। साथ ही काल के लौकिक विभाजन को भी स्वीकार किया गया है—

'काल काल विभक्तिश्च
नक्षत्राणि गुहांश्तथा।'[३]

पुराणों में काल-सम्बन्धी विवेचन की परीक्षा करने पर काल सम्बन्धी दार्शनिक विचार और भी पुष्ट हो जाते हैं। विष्णु पुराण में एक उद्धरण मिलता है जिसमें ब्रह्मा को व्यक्त, अव्यक्त, पुरुष तथा काल रूपों में अभिव्यक्त किया गया है—

'तदेव सर्व एवैतद् व्यक्ताव्यक्तस्वरूपवत्,
तथा पुरुषरूपेण कालरूपेण च स्थितम्।'[४]
'काल स्वरूपं रूपं तद् विष्णोर्मैत्रेय वर्तते।'[५]

स्पष्ट है कि पुराणों के समय में काल का और दार्शनिक रुप समक्ष आया, काल को नित्य रूप में स्वीकार किया गया। समस्त जगत्-प्रपञ्च का मूल यही काल माना गया। डॉ० सत्यव्रत शास्त्री ने इस प्रकार स्पष्ट किया है— "It existed even before creation came into being, and it will exist even after it is reduced."[6]

भागवत पुराण में सृष्टि क्रम में काल को ब्रह्म की शक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है—

---

१. श्वेताश्वतरोपनिषद्, १.३.
२. वही
३. मनुस्मृति १.२४
४. विष्णुपुराण १.२.२४
५. वही १.२.२७
६. Conception of Time, p.151. Essays on Indology.

'शौणः शरीरेऽर्पितभूतसूक्ष्मः कालात्मिकां शक्तिमुदीरयाणः।
उवास तस्मिन् सलिलेपदे स्वै यथानलो दारुणि रुद्धवीर्यः।'[१]

उपर्युक्त विभिन्न वैदिक विवरणों का अवलोकन करने से यह ज्ञान पुष्ट हो जाता है कि काल के सम्बन्ध में वैदिक ऋषियों को वह परिपूर्ण ज्ञान उपलब्ध था, जिसका आश्रय आज का मनुष्य लेता है। आज का विज्ञान काल के जिस स्वरूप तक पहुंचा है, वह वैदिक पृष्ठों पर पहले से ही उपस्थित है। अतः यदि कल विज्ञान 'काल' के विषय में कुछ नवीन मान्यतायें प्रस्तुत कर दे तो वे भी हमें वेदों में उपलब्ध मिलेंगी। डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा का कथन अन्त में प्रस्तुत समीक्षा के लिये पर्याप्त रहेगा कि इस सांकेतिक भाषा (काल सम्बन्धी) के व्याकरण तक तो अभी पहुंचा ही नहीं गया है—

"The Grammar of this symbolic language has not even been approached."[2]

निरुक्तकार यास्क ने 'काल' की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है **'कालः कालयतेर्गतिकर्मणः'** अर्थात् जो गतिमान् है, वह काल है। तात्पर्य यह है कि यह गतिकर्मा तत्त्व समस्त प्राणियों को नष्ट कर देता है, अर्थात् काल के वशीभूत होकर समस्त जगत् उत्पन्न होता है तथा नष्ट होता है। यह विलयन काल में ही होता है। काल के अनेक मुहूर्त्तादि का सूक्ष्म विवेचन आचार्य ने प्रस्तुत किया है। मुहूर्त्त की व्युत्पत्ति में उन्होंने कहा है— 'मुहूर्त्तमेवैः अयनैः अवनैर्वा।' 'एव' का अर्थ आचार्य ने रक्षण अथवा गमन माना है जो 'अव' धातु से अथवा 'इण्' धातु से व्युत्पन्न माना गया है। 'मुहूर्त्तो मुहुर्ऋतुः' से अभिप्राय है—बहुत थोड़ा काल तथा ऋतु को आचार्य ने गत्यर्थक माना है—'ऋतुरतेर्गतिकर्मणः'। अतः ऋतु को काल के समानार्थक माना गया है। 'क्षण' के सम्बन्ध में आचार्य की मान्यता है कि 'क्षण-क्षणोतेः प्रक्ष्णुतः कालः, 'क्षणु' धातु हिंसार्थक है। अतः अर्थ यह अभिप्रेत होता है कि हिंसित काल अथवा बहुत कम बचा हुआ काल। अतः स्पष्ट है कि आचार्य यास्क ने काल के विभिन्न स्वरूपों को गत्यर्थक प्रयोगों में माना है, काल सब कुछ अपने में आत्मसात् कर लेता है। अतः गतिमान् होने से तथा नष्ट करने से वह मुहूर्त्त तथा क्षणादि रूपों में प्रतीत होता है।

१. भागवत् पुराण ३८.११

आचार्य दुर्ग ने अपनी टीका में इस प्रकार कहा है—'ऋतुरर्तेः गतिकर्मणः गत्यर्थे वर्तमानस्य। स हि गच्छत्येव। मुहुर्मूढ इव कालः अल्पत्वात्।...... कालः कालयतेर्गतिकर्मणः स हि सर्वाण्येव भूतानि कालयति क्षयं नाशयतीति अर्थः।'[१]

काल के इसी शक्तिमान् स्वरूप के कारण सम्भवतया वेदों में काल को ईश्वर-स्वरूप तथा देवतास्वरूप माना गया है।

आचार्य पाणिनि के मत में काल

महाभाष्यकार ने चूंकि पाणिनिप्रोक्त शब्दों का विवेचन अपने ग्रन्थ में किया है और उन्हीं शब्दों का व्याकरण अथवा दार्शनिक दृष्टि से अध्ययन किया है, अतः यह ज्ञात करना आवश्यक हो जाता है कि काल के जिस स्वरूप का प्रस्तुतीकरण महाभाष्यकार ने अपने ग्रन्थ में किया है, उस 'काल' तत्त्व का आचार्य पाणिनि की दृष्टि से क्या स्वरूप था, आचार्य पाणिनि ने काल को क्रिया का द्योतक के रूप में प्रस्तुत किया है। अष्टाध्यायी में ऐसे अनेक सूत्र उपलब्ध होतें हैं, जिनमें 'काल' पद का प्रयोग किया गया है। विद्वानों का मत है कि पाणिनि तथा कात्यायन ने 'काल' का दार्शनिक दृष्टि से अध्ययन नहीं किया था।[२] इस सन्दर्भ में काशिकाकार का उद्धरण उपलब्ध होता है—

> 'पाणिन्युपज्ञमकालम् व्याकरणम् पाणिनेरुपज्ञानेन प्रथमतः प्रणीतमकालकं व्याकरणम्।'[३]

तात्पर्य यह है कि चूंकि पूर्वाचार्यों ने काल-सम्बन्धी परिभाषायें प्रणीत कीं, अतः आचार्य ने 'काल' के विषय में एक पृथक् परिभाषा देना उचित नहीं समझा। विद्वानों ने इस उपर्युक्त उक्ति का उदारता से अर्थ-ग्रहण किया है कि चूंकि काल का ज्ञान लोक से सहज ही हो जाता है अतः काल-विशेष द्योतक अनद्यतन आदि की परिभाषा करने की आचार्य ने कोई आवश्यकता नहीं समझी, इस सन्दर्भ में टीकाकार हरदत्त का वक्तव्य उद्धृत है—

---

१. निरुक्त २.४.२५ 'टीका'
२. "In the field of Grammar, Pāṇini and Kātyāyana are silent on the philosophical aspects of 'time'."- The Kālasamuddeśa of Bhartṛhari's Vākyapadiya, p.36
३. काशिका, २.४.२१.

'पूर्वाणि व्याकरणान्यद्यतनादि कालपरिभाषा युक्तानि, तद्रहितं तु व्याकरणं पाणिनिप्रभृतिप्रवृत्तमित्यस्ति तदादित्वस्याख्यानम्'.[१]

इस प्रकार आचार्य ने काल के विषय में विशेष नियमों की रचना नहीं की—

'स स्वस्मिन् व्याकरणे कालाधिकारम् न कृतवान्।'[२]

यहां अधिकार से परिभाषा अर्थ ही ग्रहण करना चाहिये। पूर्वाचार्यों में काशिकाकार व्याडि को मानते हैं, जिन्होंने पूर्व ही दस हुषों की रचना कर दी है—

'व्याड्युपज्ञं दशहुष्करणम्।'[३]

'हुषस्' शब्द को लकार वाची माना गया है।[४] अतः आचार्य ने यदि काल की विभाजन-प्रक्रिया को न दुहराया तो कुछ अनुचित नहीं रहा। आचार्य ने स्वयं एक सूत्र में कहा है—

'कालोपसर्जने च तुल्यम्।'[५]

अर्थात् काल तथा उपसर्जन का विवरण पुनः उपस्थित करना आचार्य ने अशिष्य माना है।

भट्टोजिदीक्षित ने काल का विवरण दिया है कि बीती हुयी रात्रि, उसका पश्चार्ध तथा आगामी रात्रि का पूर्वार्ध—उनसे युक्त दिन अद्यतन है[६] काशिकाकार की भी यही मान्यता है कि अन्य पूर्वाचार्यों ने काल तथा उपसर्जन सम्बन्धी परिभाषायें प्रस्तुत कर दी हैं—

'इहान्ये वैयाकरणाः कालोपसर्जनयोः परिभाषां कुर्वन्ति।'[७]

---

१. काशिकावृत्ति २.४.२१ 'टीका'
२. वही 'न्यास'
३. वही २.४.२१
४. 'Vyaḍi used the term Husas for the Lakaras'.- The Concept of Time According to Bhartrbhari, p.380 PAIDC
५. अष्टाध्यायी १.२.५७
६. सिद्धान्तकौमुदी १.२.५७
७. काशिका १.२.८७ दृष्टव्य- 'And a rule fixing the meaning of Tense (Kāla) and Upasarga (sequence) is equally (unnecesssary) and need not be taught.'—Asṭādhyāyí of Pāṇini 1.2.57

स्पष्ट है कि आचार्य ने काल-सम्बन्धी विशिष्ट नियमों की रचना नहीं की, अपितु पूर्वाचायो द्वारा प्रणीत काल-विषयक नियमों को दृष्टिगत करते हुये काल के उसी स्वरूप को ग्राह्य मानते हुये 'काल' तत्त्व को अपने सूत्रों में सहज स्वाभाविक रूप में प्रस्तुत किया है। अष्टाध्यायी में उपलब्ध काल-सम्बन्धी कतिपय सूत्रों की समीक्षा प्रस्तुत की जा रही है। समास प्रकरण में 'कालाः'[१] सूत्र का विवरण मिलता है, जिसका अर्थ परवर्ती सूत्र 'अत्यन्त संयोगे च'[२] के साथ मिलाकर इस प्रकार ग्रहण किया जाता है कि काल-वाची शब्दों का अत्यन्त सामीप्य में क्वान्त पदों के साथ समास होता है। अर्थात् यहां आचार्य ने काल की एक लम्बी कड़ी में विघ्न भी स्वीकार किया है, जिसे काशिकाकार ने स्पष्ट किया है—'षण्मुहूर्ताश्चराचराः, ते कदाचिदहर्गच्छन्ति, कदाचिद्रात्रिम्।'[३] यहां षड्मुहूर्त में अनत्यन्त संयोग है। आचार्य का अभिप्रेत है कि काल के साथ अत्यन्त संयोग चाहे एक क्षण का ही क्यों न हो, 'कालस्य स्वेन सम्बन्धिना व्याप्तिः।'[४] कहकर काशिकाकार ने आचार्य के अभिप्रेत को स्पष्ट किया है। न्यासकार ने इसको और अधिक स्पष्ट करते हुये कहा है—'कृत्स्नस्य सकलस्य संयोगः कृत्स्नस्य कालस्य मुहूर्त्तादिः स्वेन सम्बन्धिना-सुखादिना संयोगः-सम्बन्धोऽत्यन्तसंयोगः।'[५] वे उदाहरण से स्पष्ट करते हैं—'अत्र मुहूर्त्तस्य कालस्य स्वेन सम्बन्धिना सुखेन व्याप्तिः। अर्थात् काल का उस सम्पूर्ण अवधि पर्यन्त सुबन्त के साथ संयोग होना। श्री एस०सी० वासु ने स्पष्ट किया है—

"Words denoting time .... when used in the sense of complete counection throughout with the time (i.e., duration of time). [6]

अर्थात् पाणिनि ने काल को एक बिन्दु भी माना है—मुहूर्त्त, क्षणादि रूप में तथा काल से विस्तार अर्थ भी ग्रहण किया है।

---

१. अष्टाध्यायी २.१.२८
२. वही २.१.२९
३. काशिका २.१.२.
४. काशिका २.१.२९
५. काशिकावृत्ति 'वही'
६. Astadhyayi of Panini, 11.1.29.

'कालाः परिमाणिना'[१] सूत्र का अर्थ लिया गया है परिमाणवाची कालशब्द अर्थात् जहां पर परिमाणवाची शब्द हैं, अभिप्राय यह है कि किसी स्थान पर काल को अपरिमाणयुक्त भी माना गया है। हरदत्त ने अपनी टीका में इसी प्रकार का संकेत दिया है—'तत्र च यद्यपि कालः प्रस्थादिवत्सर्वतो मानं न भवति, तथापि परिच्छेदहेतुत्वात्परिमाणमित्युच्यते।'[२]

अर्थात् काल अविभक्त है, किन्तु लोक में विभाग के हेतु क्रियादि के साथ संयुक्त होने के कारण वह विभक्त रूप में प्रकट होता है। न्यासकार की भी अभिव्यक्ति इसी प्रकार की है—

'ननु च कालः परिमाणमेव न भवति अनवधित्वात्। तत् कथं तदभिधायिनः शब्दाः परिमाणवाचिना भवन्ति? परिच्छेदहेतुमात्रपरिमाण-साधर्म्यमुपादायोपचारेण कालाः परिमाणत्वेनाभिमतः।'[३]

पाणिनि को यह भली-भांति ज्ञात था कि काल अपने मूलस्वरूप में अपरिच्छेद्य है, अपरिचित है, किन्तु परिच्छेदवाची प्रयोगों में वह परिमाण में विभक्त हो जाता है। जिसको परिमित किया जाय वह परिमाण कहलाता है तथा उस परिमाण से युक्त परिमाणी।[४] काल के परिमाण को निश्चित करने में आदित्य की गति का बहुत बड़ा संयोग है, क्योंकि आदित्य की गति के ही कारण काल परिमाणयुक्त हो जाता है। स्पष्ट है कि परिमाणवाची काल से महाभाष्यकार ने आचार्य के विचारों का ही अनुकरण किया है।

भविष्यत् काल से सम्बन्धित सूत्र रचना आचार्य ने की—'कालविभागे चाऽनहोरात्राणाम्।'[५] प्रस्तुत सूत्र में जब आचार्य दिन व रात्रि के विभाजन का निषेध करते हैं तो दिन व रात्रि के विभाजन का संकेत स्वतः मिल जाता है। भविष्यत् काल के लिये 'अवर' शब्द का प्रयोग किया गया।[६]

तात्पर्य यह है कि जहां भविष्यत् अनद्यतन होता है, वहां भी लुट् के स्थान पर लृट् का प्रयोग कर लिया जाता है, किन्तु इस काल में परिमाण

१. अष्टाध्यायी २.२.५
२. काशिकावृत्ति २.२.५ टीका
३. काशिकावृत्ति २.२.५ टीका
४. 'परिमीयते परिच्छिद्यते येन तत्परिमाणं तद्वान्परिमाणी।' शब्दकौस्तुभ, २.२.५
५. अष्टाध्यायी ३.३.१३७
६. भविष्यति मर्यादावचनेऽवरस्मिन्।—अष्टाध्यायी ३.३.१३७

'अवर' अर्थात् काल के इस ओर का होना चाहिये, 'पर' ओर का नहीं। काशिकाकार ने स्पष्ट किया है—'योऽयं निरवधिकः कालः आगामी तस्य यदवरमाग्रहायण्यास्तत्र मुक्ता अध्येतास्महे-तत्रोदनं भोक्तास्महे।'[१] प्रस्तुत उदाहरण 'अवर' का है—जो काल के इस ओर ही है। द्वितीय उदाहरण में इसके विपरीतं अभिप्राय संकेतित है—'योऽयं वत्सरोऽतीतस्तस्य यदवरमाग्रहायण्यास्तत्र युक्ता अध्यैमहि।'[२] यहां 'अवर' का अर्थ अतीत है।

तात्पर्य यह है कि अनागत अवर अर्थात् काल के इस ओर का भाग, भविष्यत् काल में माना जाता है तथा अतीत जो 'अवर' है वह भूतकाल के अन्तर्गत समझा जाय।

आचार्य ने काल के विभिन्न स्वरूपों के आधार पर, लडादि लकारों को स्वीकार किया तथा अद्यतन, अनद्यतन, परोक्ष, अपरोक्ष आदि के आधार पर काल का सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत किया। 'साऽस्यदेवतेत्यस्मिन्नर्थे तथैवेष्यन्ते, तदर्थमिदमुच्यते।'[३] सूत्र में मासविशेष पवित्र देवता के रूप में माना गया है—'मासो देवताऽस्य मासिकम्।'[४] सूत्र की समीक्षा करने से यह संकेत मिलता है कि आचार्य पाणिनि ने भी काल को मानवातीत माना है, ब्रह्म की शक्ति के रूप में जो ग्रहण किया गया है वह इस बात का परिचायक है।

उपर्युक्त उद्धरणों का अध्ययन करने के पश्चात् यह निश्चित हो जाता है कि यद्यपि आचार्य ने काल सम्बन्धी किसी परिभाषा की संरचना नहीं की, तथापि स्थान-स्थान पर वह दार्शनिक पुट दृष्टिगत हो जाता है, जिसकी भूमिका महाभाष्यकार पतञ्जलि ने प्रस्तुत की है। अतः कह सकते हैं कि आचार्य पाणिनि ने व्याकरणिक दृष्टि के साथ-साथ दार्शनिक दृष्टि से भी काल को महत्त्व दिया। काल के स्थूल स्वरूप के साथ-साथ उसके सूक्ष्म स्वरूप का चित्रण आचार्य पाणिनि के मस्तिष्क में स्पष्ट रूप से अंकित था।

---

१. काशिका ३.३.१३७

२. वही

३. अष्टाध्यायी ४.२.३४

४. काशिका ४.२.३४

भर्तृहरि की दृष्टि में काल-दर्शन

पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा प्रणीत काल सम्बन्धी तत्त्वों का अध्ययन करने के साथ-साथ वाक्यपदीयकार ने काल को एक सर्वथा पृथक् दर्शन रूप दे दिया, जो उनके 'काल समुद्देश' में उपलब्ध विवरण से स्पष्ट होता है। वाक्यपदीयकार ने अनेक दर्शन सम्प्रदायों के आचार्यों को भी काल प्रकरण में उद्धृत किया तथा उनका समालोचन तथा समर्थन भी किया।[१]

वाक्यपदीयकार ने काल को एक सामान्य तत्त्व मानने के अतिरिक्त परम् ब्रह्म की उन अनेक शक्तियों में से एक माना है, जिनके संयोग से यह संसार-चक्र चालित है, वे शक्तियां निम्न हैं—

'दिक् साधनं क्रिया काल इति वस्त्वभिधायिनः
शक्तिरूपे पदार्थानां अत्यन्तं अनवस्थिताः।'[२]

काल शक्ति को वाक्यपदीयकार ने मुख्या शक्ति तथा स्वतन्त्र शक्ति के रूप में स्वीकार किया है। अन्य कलाओं के साथ-साथ काल शक्ति के आश्रय से ही जन्मादि षड्भावविकार जगत् में उत्पन्न होते हैं—

'अध्याहितकलां यस्य कालशक्तिमुपाश्रिताः
जन्मादयो विकाराः षड्भावभेदस्य योनयः।[३]

वृषभदेव ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—

'एवं ब्राह्मणो घटादीनां योग्यतानाञ्च भेदाभावं प्रतिपाद्य कालस्यापि ततो भेदाभावं प्रतिपादयति। यतः कालो नाम नित्यः कश्चित् स्वतन्त्र एव सर्वपदार्थानां स कारणमित्यङ्गीकृतम्।'

काल नित्य स्वतन्त्र शक्ति है, जागतिक पदार्थों को सञ्चालित करने वाली जो शक्तियां हैं वे भी काल द्वारा ही चलायमान होती हैं। श्री पेरि सर्वेश्वर शर्मा ने कालसमुद्देश की भूमिका में इस प्रकार कहा है—

---

१. "Sometimes it is his view, sometimes another's. But whosoever it is, it is always supported and never refuted. Thus the Kāla samuddeśa is a variable repetatory of the various theories and views that once held ground and still need it."— The Concept of Time according to Bhartṛhari p.68

२. वाक्यपदीय ३.९.१.

"All powers depending on their causes and having a starting point, are governed by creating power (svātantrya) called time; they follow the modes of this time-power.[1]

काल को वाक्यपदीयकार ने विश्वात्मा माना है जो समस्त व्यापारों का कारण है—

काल एव हि विश्वात्मा व्यापार इति कथ्यते।'[२]

जिस प्रकार मूर्तिभेद सुवर्णादि द्रव्य के द्वारा दृष्टिगोचर होता है, उसी प्रकार इस समस्त संसार की क्रिया का भेदक काल ही है—

'दिष्टिप्रस्थसुवर्णादि मूर्त्तिभेदाय कल्पते।
क्रियाभेदाय कालस्तु संख्या सर्वस्यभेदिका।'[३]

वाक्यपदीयकार ने काल की अनेक शक्तियों का विवरण दिया है, यथा—प्रतिबन्ध शक्ति, अभ्यनुज्ञाशक्ति, क्रमशक्ति, जराख्या शक्ति तथा समवाय शक्ति, इनमें प्रतिबन्ध व अभ्यनुज्ञा शक्तियां मुख्यतः विश्लेषित की गयी हैं।[४] क्रिया की गति को अवरुद्ध कर देना प्रतिबन्ध है तथा इसके विपरीत करना अभ्यनुज्ञा है। लोक में यह देखने में आता है कि किसी क्रिया का विघात होता है तथा किसी क्रिया को प्रेरित किया जाता है। यदि प्रतिबन्ध व अभ्यनुज्ञा शक्तियां अपने कार्य में लीन न रहें तो क्रियाओं में पौर्वापर्य सम्बन्ध न हो तथा क्रियायें युगपद् उत्पन्न होने लगें—

'यदि न प्रतिबध्नीयात् प्रतिबन्धं च नोत्सृजेत्।
अवस्था व्यतिकीर्येरन् पौर्वापर्यविनाकृताः।[५]

प्रतिबन्ध व अभ्यनुज्ञा शक्तियों के महत्त्व के सन्दर्भ में डॉ० रामसुरेश त्रिपाठी का कथन उद्धृत है—

---

१. Kālasamuddeśa, p.30
२. वाक्यपदीय ३.९.१२
३. वाक्यपदीय ३.९.२
४. प्रतिबन्धाभ्यनुज्ञाभ्यां वृत्तिर्या तस्य शाश्वती।
तया विभज्यमानो सो भजते क्रमरूपताम्। वही ३.९.३०
५. वही ३.९.५.

'बीज, अंकुर, नाल, काण्ड आदि में पौर्वापर्य-क्रम विच्छिन्न हो जाय और सर्वत्र सांकर्य आ जाय, सर्ग, स्थिति और प्रलय भी कालकृत प्रतिबन्ध और अभ्यनुज्ञा के वश से होते हैं।'[१]

प्रो० सत्यव्रत शास्त्री की मान्यता है कि प्रतिबन्ध तथा अभ्यनुज्ञा शक्तियां कम या अधिक मात्रा में 'विक्षेप' तथा 'आवरण 'शक्तियों के समान हैं जिनको परवर्ती अद्वैत वेदान्तियों ने माया अथवा अविद्या के रूप में जाना है।[२]

क्रमाख्या शक्ति वह है जिसके द्वारा कारण परिणाम को उत्पन्न करने में समर्थ हो पाता है। काल की प्रतिबन्ध और अभ्यनुज्ञा शक्तियां भी क्रम रूप को प्राप्त होती हैं। भाव सतत परिणामी हैं, उनमें परिवर्तन का आधार क्रम ही है।

क्रिया अनेक क्षणों के समाहार से युक्त होती है, तथा उन क्षणों का अभाव भी युगपद् नहीं होता है, अतः कालशक्ति सक्रमा है, हेलाराज का कथन इस प्रकार है—

'इह क्रिया तावदनेकक्षणसमाहारात्मिका युगपद् क्षणानामभावात् सक्रमेति कालशक्त्यनुगृहीतैव सर्वः क्रमो हि कालधर्मः।'[३]

जराख्या शक्ति प्रतिबन्धक शक्ति के रूप में है—यह शक्ति समस्त शक्तियों की विरोधिनी, शक्तियों को कुण्ठित करने वाली तथा गति को अवरुद्ध करने वाली है—

'जराख्या कालशक्तिर्या शक्त्यन्तरविरोधिनी,
सा शक्तिं प्रतिबध्नाति जायन्ते च विरोधिनः।'[४]

जराख्या शक्ति अन्ततः प्रध्वंस का कारण होती है। हेलाराज की व्याख्या इस प्रकार है—

१. संस्कृत व्याकरण दर्शन, पृ० २१५
२. "These two powers namely, pratibhand and abhyanujñā correspond more or less to the powers, 'Viksepa and āvaraṇa ascribed to avidya or 'māyā' by the later writers on Advaita."— The Concept of Time according to Bhartṛhari, p.70 ABORI.
३. वाक्यपदीय ३.९.२७
४. वाक्यपदीय ३.९.२४

'जीर्यते भावेऽनयेति जरा नाम कालस्य शक्तिः प्राण्यप्राणिसाधारण यौवनादिशक्त्यन्तरप्रतिबन्धिनी कार्यव्यक्तीनां कालान्तर प्रतिवासावधृतार्थक्रियासु सामर्थ्यं विघ्नयति ततश्च सामर्थ्यविरोधिनोऽवस्थाविशेषाः प्राण्यप्राणिषु प्रज्ञामान्द्यशोषादयः प्रादुर्भवन्ति। यतः प्रध्वंसः प्रत्यासन्न इति लक्ष्यते।'[१]

जब जराख्या शक्ति क्रियावान् होती है, तब जीवन की अन्य सभी शक्तियां विश्राम करती हैं।

"All powers of life and growth are set at last when this aspect of Kālaśakti manifests itself. Loss of intelligence and withering of vital forces are clear indications of the approach of Jarā."[2]

समवाय शक्ति वह है जिसमें कारण-कार्यभेद तिरोहित हो जाता है, यथा-पट में तन्तु समवाय रूप से उपस्थित रहते हैं। यह शक्ति कार्यकारण में एकत्व उत्पन्न करती है—

'ततस्तु समवायाख्या शक्तिर्भेदस्य बाधिका
एकत्वमिव ता व्यक्तीरापादयति कारणैः।'[३]

वाक्यपदीयकार ने काल के शक्तिरूप, आत्मारूप तथा देवतारूप स्वीकार किये हैं—

"शक्त्यात्मदेवतापक्षैःर्भिन्नं कालस्य दर्शनम्
प्रथमं तदविद्यायां यद्विद्यायां न विद्यते।"[४]

हेलाराज का कथन है कि वाक्यपदीयकार ने काल को स्वातन्त्र्य शक्ति के रूप में ही माना है।

"कालाख्या स्वातन्त्र्यशक्तिर्ब्रह्मण इति तत्रभवद्भर्तृहरेभिप्रायः।"[५]

---

१. वही 'टीका'
२. Philosophy of Word and Meaning, p.32.
३. वाक्यपदीय ३.९.१८
४. वाक्यपदीय ३.९.६
५. वही 'टीका'

काल के आत्मा तथा देवता स्वरूप का प्रभाव जो वाक्यपदीयकार के कालदर्शन में दृष्टिगोचर होता है, वह स्वरूप वैदिक ग्रन्थों तथा पुराणों में पहले ही से उपलब्ध होता है।[१]

प्रो० सुब्रहमण्य अय्यर ने काल को स्वातन्त्र्य शक्ति मानने के सन्दर्भ में अपने विचार इस प्रकार दिये हैं-

"The Lord who manifests the objects, also manifests them in a sequence. So what is called Time is a Sakti of Brahman."[2]

कालशक्ति स्वयं में एक है, किन्तु वसन्तादि ऋतुओं में कोकिलादि का कूंकना, नवकिसलयों का प्रस्फुटित होना आदि क्रियायें काल के ही कारण सम्भव हैं और इन विभिन्न परिवर्तनों के कारण वसन्तादि-भेद में काल शक्ति विभक्त सी प्रतीत होती है—

'रुतैर्मृगशकुन्तानां स्थावराणां च वृत्तिभिः,
छायादिपरिणामैश्च ऋतुधामा निरूप्यते।
निर्भासोपगमो योऽयं क्रमवानिव दृश्यते
अक्रमस्यापि विश्वस्य तत् कालस्य विचेष्टितम्।'[३]

वाक्यपदीयकार का कथन है कि काल एक ही है, द्वयणुक का आरम्भ काल तथा हिमालय का आरम्भ काल समान ही है।[४]

क्रिया के वैविध्य के आधार पर ही काल का वैविध्य निश्चित होता है। यदि क्रिया उत्पन्न होकर ध्वस्त हो गयी है, तो वह भूतकालिक क्रिया है और यदि क्रिया के समस्त साधन सन्निहित हैं और उसकी उत्पत्ति सम्भाव्य है, तो वह क्रिया भविष्यत् कालिक है। जब क्रिया प्रारम्भ हो गयी होती है और समाप्त नहीं हुयी होती, तो वह वर्तमान कालिक क्रिया कहलाती है। अतः भूत, भविष्यत् और वर्तमान कालभेद क्रियोपाधिक हैं—

---

१. अनादिरेष भगवान्कालोऽनन्तोऽजरः परः सर्वगतत्वात् स्वतन्त्रत्वात् सर्वात्मवान् महेश्वरः। कूर्मपुराण-वाचस्पत्यम्, पृ० १९८६
२. Vākyapadiya, pp.54-55
३. वाक्यपदीय ३.९.४५.४६
४. वही ३.९.३४

'क्रियोपाधिश्च सन् भूतभविष्यद्वर्तमानता।
एकादशभिराकारैर्विभक्ताः प्रतिपद्यते।'[१]

क्रियाओं के भेद बुद्धिगत हैं। क्रिया के प्रतिबिम्ब को बुद्धि ग्रहण करके, तदाकार बुद्धि काल में स्थापित हो जाती है। अतः अभिन्न काल में ये भेद क्रियाकृत हैं—

'तस्याभिन्नस्यकालस्य व्यवहारे क्रियाकृताः।
भेदा एव त्रयः सिद्धा यांल्लोकोनातिवर्त्तते।'[२]

काल की तीनों शक्तियों में दो शक्तियां भूत तथा भविष्यत्, भाव-पदार्थों को अवरुद्ध करती हैं तथा वर्तमान शक्ति उन पदार्थों को प्रकाशित करती है।

'द्वाभ्यां किल शक्तिभ्यां भावानां वरणात्मकः
शक्तिस्तु वर्तमानाख्या भावरूपप्रकाशिनी।'[३]

काल का भविष्यत् स्वरूप वर्तमान स्वरूप को कदापि अवरुद्ध नहीं करता, किन्तु काल का वर्तमान स्वरूप काल के भूत स्वरूप के द्वारा पूर्णतया शक्तिहीन हो जाता है—

'अनागता जन्मशक्तेः शक्तिरप्रतिबन्धिकाः, अतीताख्या तु या शक्तिस्तयाजन्म विरुद्ध्यते।'[४]

हेलाराज का अभिप्राय है कि वर्तमान शक्ति भविष्यत् शक्ति के साथ जन्म से होती है, अतः भविष्यत् शक्ति वर्तमान शक्ति की अविरोधिनी है, किन्तु अतीतशक्ति वर्तमानाख्या जन्मशक्ति का विरोध करती है, यथा मृतमनुष्य का पुनर्जन्म सम्भव नहीं है तथा पार किये हुये मार्ग में कोई वस्तु पुनः

---

१. वाक्यपदीय ३.९.३७.

२. वही ३.९.४८ द्रष्टव्य- "Thus the distinctions into past, future and present naturally pertain to actions while they are superimposed on kālaśakti".- Philosophy of Word and Meaning, p.37

३. वाक्यपदीय ३.९.५०

४. वाक्यपदीय ३.९.५१

प्रकट नहीं होती।[१] 'जन्मसहचरिताया वर्त्तमानशक्तेरनागतशक्तिरविरोधिनी प्रतिबन्धनं करोत्युदये—अतीतशक्त्या तु जन्मशक्तिवर्तमानाख्या विरुध्यते एव न हि मृतस्य पुनर्जन्मेति नातीतेऽध्वनि पतितमाविर्भवति वस्तु।'

काल के दो स्वरूपों—अतीत तथा अगानत की तुलना वाक्यपदीयकार ने सांख्यदर्शन के तमोरूप से की है। अतीत तथा अनागत, दोनों ही पदार्थों का अवरोध करते हैं तथा भावों के आवरण स्वरूप हैं। वर्तमान शक्ति चूंकि पदार्थों का प्रकाशन करती है, अतः वह सत्त्व रूप है। रजस् तत्त्व सभी पदार्थों के परिवर्तन के मूल में रहता है—

'द्वौ तु तत्र तमोरूपावेकस्यालोकवत् स्थितिः
अतीतमपि केषाञ्चित् पुनर्विपरिवर्तते।'[२]

हेलाराज के अनुसार अतीत तथा अनागत भाव को आवृत्त करने के कारण तमः-स्वभाव युक्त होते हैं, और चूंकि वर्तमान प्रकाशित करता है, अतः वह सत्त्व-स्वरूप है—

'अतीतानगतावध्वानौ भावावरणहेतुत्वात् तमः स्वभावौ—
वर्तमानोऽध्वा प्रकाशतुल्यः सत्त्वसदृशः।'[३]

वाक्यपदीयकार के द्वारा विरचित कालसमुद्देश का अध्ययन करने से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि जहां वाक्यपदीयकार ने काल-दर्शन के विषय में महत्वपूर्ण मान्यता दी है, वहीं विभिन्न दर्शनों में काल के स्वरूप का भी विवरण दिया है। वाक्यपदीयकार का काल-दर्शन महाभाष्यकार के साथ-साथ तत्कालीन अन्य अनेक कालदर्शनों से प्रभावित रहा था।

टीकाकारों में नागेशभट्ट ने महाभाष्यकार से पृथक् अपने विचार यदा-कदा प्रकट किये हैं, वे काल को क्रिया का भेदक नहीं मानते, काल को क्रिया का भेदक मानने पर काल में क्षण-उपाधि सम्भव नहीं है, क्योंकि क्रिया के विशेषण-विशेष्य और सम्बन्ध रूप होने के कारण, तीनों के स्थिर रहने के कारण काल में क्षण का व्यवहार असम्भव है—

१. वाक्यपदीय ३.९.५१, टीका
२. वही ३.९.५३.
३. वाक्यपदीय ३.९.५३. 'टीका' द्रष्टव्यम् सत्त्वं लघुप्रकाशकमिष्टम् सांख्यकारिका ३.

'आद्यपक्षे क्षणोपाधेर्निर्वक्तुमशक्यत्वम्। उत्तरदेशसंयोगावच्छिन्नक्रियेति चैत् तस्या विशेषमविशेषण- सम्बन्धरूपत्वे त्रयाणामपि स्थिरत्वात् क्षणव्यवहारनियामकत्वाभावः।'[१]

नागेश भट्ट क्षण-प्रवाह को ही काल मानते हैं। उन्होंने महाभाष्यकार के समान काल को नित्य अथवा सार्वभौमिक नहीं माना है—

'प्रकृतेः परिणामस्य विवर्तस्य वातिभङ्गुरस्य विभोः क्षणस्य धाराया कालतत्त्वात्।'[२]

एक अन्य स्थल पर मञ्जूषा के टीकाकार ने इस प्रकार उल्लेख किया है—

'केचित् क्रियात्मकं कालमिच्छन्ति तन्निराकरोति क्रियाधारं इति-न तु क्रियारूपम्।'[३]

अतः स्पष्ट है कि नागेश भट्ट काल को क्रिया का आधार मानते हैं किन्तु क्रियारूप नहीं मानते।

विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों में काल-विवेचन

काल सम्बन्धी धारणायें वाक्यपदीयकार ने भी काल के प्रसंग में स्थान-स्थान पर दी हैं, तथापि अनेकानेक दर्शनसम्प्रदायों की कालविषयक मान्यताओं का अध्ययन कर लेना समीचीन रहेगा।

जैन मत

जैनाचार्यों ने काल को उतना ही वास्तविक माना है, जितना अन्य पांच तत्त्वों को, वे पांच तत्त्व हैं—जीव, धर्म, अधर्म, पुद्गल तथा आकाश। वैशेषिकाचार्यों के समान ही इन आचार्यों ने काल को उन पदार्थों के निर्माण में सहकारि कारण अथवा असमवायि कारण माना है। कुछ विद्वान् काल की सत्ता को ही अस्वीकार करते हैं। तत्त्वत्रय में काल के विषय में विवरण इस प्रकार दिया गया है—"केचित् कालो नास्तीत्याहुः।"[४]

१. महाभाष्यप्रदीपोद्योत ३.२.८४
२. वैयाकरणसिद्धान्तमञ्जूषा, पृ० ९३९. बनारस (१९६५)
३. वही, पृ० १७१
४. तत्त्वत्रय, पृ० ६६

काल के सम्बन्ध में इस धारणा को पुष्ट करते हुये अन्य विचार उपलब्ध होते हैं—

'ये केचन आचार्याः कालं द्रव्यं नाभ्युपयन्ति किन्तु धर्मादिद्रव्याणां पर्यायमेव, तन्मते धर्माधर्माकाशपुद्गलजीवाख्यापञ्चास्तिकायात्मको लोकः, ये तु कालं द्रव्यं इच्छन्ति तन्मते षड्द्रव्यात्मको लोकः पञ्चानां धर्मादिद्रव्याणां काल द्रव्यस्य च तत्र सद्भावात्।[१]

उपर्युक्त उद्धरण का विवेचन करने से दो धारणायें समक्ष आती हैं—एक धारणा उन आचार्यों की है जो 'काल' को द्रव्य के रूप में नहीं स्वीकारते। उनके मत में लोक पञ्चास्तिकयात्मक है, पांच द्रव्यों से युक्त है। दूसरी धारणा उन आचार्यों की है जो काल को एक द्रव्य के रूप में स्वीकार करते हैं, उनके मत में लोक षड्द्रव्यात्मक है। तत्त्वार्थसूत्र में एक सूत्र से संकेत मिलता है कि दिगम्बर सम्प्रदाय के आचार्य काल की सत्ता को स्वीकार करने वालों में थे—'कालश्च'[२] किन्तु श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अनुयायी इसी सूत्र को भिन्न प्रकार से प्रस्तुत करते हैं—'कालश्चेत्येकं'। इस व्याख्या से ऐसा प्रतीत होता है कि वे आचार्य काल की सत्ता को नहीं मानते। अतः काल की सत्ता के सन्दर्भ में दोनों समुदायों में मतभेद है।

स्पष्ट है कि काल के सम्बन्ध में जैन धर्म में दोनों ही मान्यतायें प्रचलित हुयीं।

बौद्ध मत में काल-दर्शन

अपोहवाद के व्यवस्थापक काल की सत्ता को नहीं स्वीकारते हैं। काल को बाह्य अथवा पृथक् रूप से नहीं माना गया है। बौद्ध दार्शनिकों का अभिप्राय है कि काल बौद्धिक अनुभूति है,[३] मस्तिष्क में विभिन्न क्रियाओं का क्रम एकत्रित होता है और वह क्रम क्षण, दिन, माह आदि का रूप ग्रहण कर लेता है। अर्थात् काल पूर्णतः बौद्धिक आकार है। वाक्यपदीयकार ने इस प्रकार बौद्ध मत को प्रस्तुत किया है—

---

१. तर्करहस्यदीपिका, पृ० १६२-६३
२. तत्वार्थसूत्र ५.१८
३. "It is an intellectual fiction".- Conception of Time, p.181. Essays on Indology.

'बहूनां चानवस्थानादेकमेवोपलभ्यते।
यथोपलब्धिस्मरणं तत्र चाप्युपद्यते।'[१]

तात्पर्य यह है कि अवयव क्रम से उत्पन्न होते हैं, युगपत् एक ही काल में उत्पन्न नहीं होते।

काल का वर्तमान अथवा भूत रूप भी बौद्धिक अनुभूति है, काल की बाह्य सत्ता नहीं है। भिन्न क्रिया लक्षण बुद्धि के द्वारा ही ग्रहण किये जाते हैं। हेलाराज ने इस प्रकार कहा है—'भिन्नाः क्रियालक्षणाः सङ्कलना बुद्ध्यनुसंह्रियमाणाः सङ्कल्प्यमानाश्चिरक्षिप्रादिव्यपेदशस्य निमित्तं भवन्ति एवमऽहोरात्रादिव्यपदेशस्य--- ।

तत्र तावत् कालतत्त्वं नास्त्यन्यो बाह्या कश्चित् काल इति बौद्धप्रायाः ।'[२]

बौद्धाचार्यों की मान्यता है कि पदार्थों के पौर्वापर्य सम्बन्ध से ही काल का पौर्वापर्य सम्बन्ध निर्धारित होता है। क्षणादि पद से घटादि पदार्थ का व्यवहार होता है, अर्थात् जो पदार्थ-ज्ञान हो रहा है, वही काल है, उसके अतिरिक्त काल नहीं है। जिस क्षण घट का ज्ञान हो रहा है वही क्षण काल है, उस क्षण के अतिरिक्त काल नहीं है।

'बौद्धानां मते क्षणपदेन घटादिरेव पदार्थो व्यवह्रियते, न तु तदतिरिक्तो कश्चित् क्षणो नाम कालोऽस्ति।'[३]

शिवार्कमणिदीपिका में भी इसी अभिप्रेत को संकेतित करता हुआ एक अन्य उद्धरण प्राप्त होता है—

'बौद्धानाम्मते वस्तुतः कालो नास्ति। उद्यन्नेव स्वरसभङ्गुरो घटादिः क्षणपरिकल्पनामात्रनिमित्तम् भवति-स च घटादिः स्वोदयविनाशपरिकल्पित क्षणवत्वात् क्षणिकोऽपि भवति।'[४]

बौद्धाचार्य क्षणभङ्गवाद में विश्वास करते हैं। पदार्थ एक क्षण के लिये ही अस्तित्वयुक्त होता है और उस क्षण के पश्चात् वह पदार्थ समाप्त

---

१. वाक्यपदीय ३.९.८७
२. 'कलाभिः पृपिगर्थाभिः प्रविभक्तं स्वभावतः केचिद् बुद्ध्यनुसंहारलक्षणं तं प्रचक्षते।' वही ३.९.५७ टीका
३. ब्रह्म विद्याभरण २.२.२०
४. शिवार्कमणिदीपिका २.२.१९

हो जाता है, दूसरे क्षण दूसरा पदार्थ जन्म लेगा, वह नहीं। इसके अतिरिक्त क्षण कुछ नहीं है और काल की सत्ता भी उतनी ही है। वैभाषिक सम्प्रदाय के आचार्यों ने प्रत्येक धर्म में काल की सत्ता को स्वीकार किया है और वह काल सत्ता तीनों रूपों में-वर्तमान, भूत तथा भविष्यत्-में विद्यमान रहती है।

इसी परम्परा को उन्होंने त्रैकाल्यसिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया है। अभिप्राय यह है कि धर्म सदा विद्यमान रहता है तथा धर्म की सत्ता का भाव परिवर्त्तित होता रहता है।

अतः बौद्ध धर्म में दो विचारधारायें प्रचलित हुयीं-एक विचारधारा काल की सत्ता को नकारने वाली तथा दूसरी विचारधारा काल की सत्ता को स्वीकारने वाली रही। वहाँ भी काल एक क्षण की स्थिति के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।

मीमांसादर्शन में कालतत्त्व

कालतत्त्व की सत्ता को स्वीकार करने वाले दर्शनों में मीमांसा दर्शन एक है। भाट्ट सम्प्रदाय काल को एक नित्य तथा सार्वभौमिक तत्त्व के रूप में स्वीकार करते हैं। कालतत्त्व एक होते हुये भी क्षण, मासादि में विभक्त सा प्रतीत है, यह भेद औपाधिक है—

'कालस्यापि विभुत्वेऽपि औपाधिक्ये भेदव्यवहारोऽस्ति।'[१]

भाट्ट मीमांसकों के अनुसार काल इन्द्रियग्राह्य विषय है—

"स च कालः षडिन्द्रियग्राह्य।'[२]

शास्त्रदीपिकाकार ने इस प्रकार अभिव्यक्त किया है कि काल का स्वतन्त्र रूप से प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, अपितु विषयों में इसकी ग्राह्यता होने के कारण विषयों के साथ काल का भी ग्रहण इन्द्रियों से होता है—

'कालो न स्वातन्त्र्येणेन्द्रियैर्गृह्यते, अथ च विषयेषु स्वेषु गृह्यमानेषु तद्विशेषणतया सर्वैरपीन्द्रियैर्गृह्यते।'[३]

---

१. मानमेयोदय, पृ० १९१.
२. वही, पृ० १९०
३. शास्त्रदीपिका १.१.५

काल की इन्द्रियग्राह्यता के सन्दर्भ में मधुसूदन सरस्वती का कथन भी उल्लेखनीय है।

'कालस्य च रूपादिहीनस्य मीमांसकादिभिः सर्वेन्द्रियग्राह्यत्वाभ्युपगमात्।'[१] अतः काल रूपादिहीन होने के सर्वेन्द्रिग्राह्य है।

प्राभाकर मीमांसकों ने वैशेषिकाचार्यों के समान ही नवपदार्थों में एक पदार्थ-काल माना है। काल के नित्य अथवा अनित्य स्वरूप के सन्दर्भ में रामानुजाचार्य ने मीमांसा मत को स्पष्ट किया है—

'तत्र चाभ्युपगमसिद्धान्तन्यायेन कणादतन्त्रसिद्ध एव प्रमेयवर्गोऽङ्गीक्रियते तस्य तत्प्रतिपादनार्थ प्रवृत्तत्वात् न तु पृथगत्रव्युत्पाद्यते। तत्राप्यभिमतांशो निराक्रियते, विशेषांस्तु व्युत्पाद्यते।'[२]

अतः काल को नित्य स्वीकार किया गया है। मीमांसकों का यह सम्प्रदाय वैशेषिकों द्वारा मान्य काल के स्वरूप को स्वीकार करता है, तो निश्चित ही ये आचार्य काल को नित्य, विभु, सार्वभौमिक मानते हैं तथा काल में भेद भी उन्होंने वैशेषिकाचार्यों के समान औपाधिक ही माना है।

सांख्य मत में काल

सांख्याचार्य काल की सत्ता को नहीं मानते। वाचस्पति मिश्र ने कारण स्पष्ट किया है कि जिस प्रकार वैशेषिक काल की सत्ता को स्वीकार करते हैं, उस प्रकार काल को अनागत कारण नहीं माना जा सकता। अतः आचार्यों का अभिप्रेत है कि जिन उपाधिभेदों से अनागतादि का व्यवहार किया जाता है, उन्हीं उपाधिभेदों को अनागतादि व्यवहार का कारण माना जाना चाहिये। अतः काल जैसे किसी बाह्य तत्त्व की सत्ता को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है—

'कालश्च वैशेषिकाभिमत एको नानागतादिभेदव्यवहारं प्रवर्तयितुमर्हति तस्मादयं यैरुपाधिभेदैरनागतादि व्यवहारभेदं प्रतिपद्यते, सन्तुते एवोपाधयोऽनागतादिव्यवहारहेतव कृतं अन्तर्गडुना कालेवेति सांख्याचार्याः तस्मान्न कालरूपतत्वान्तराभ्युपगम इति।'[३]

१. अद्वैतसिद्धि, पृ० ३१९
२. तन्त्ररहस्य, प्रमेय परिच्छेद, पृ० १७
३. सांख्यतत्वकौमुदी, ३३ 'टीका

शारीरक भाष्य की टीका में उल्लिखित है कि सांख्याचार्य काल की सत्ता को स्वीकार नहीं करते—

'सांख्ये कालस्यानङ्गीकारात्।'[१]

'प्रधानवादे पञ्चविशंतितत्त्वेभ्यो बहिर्भूतस्य कालतत्त्वस्याभावात् प्रधानमेव कालशब्देन व्यवह्रियताम्।'[२]

अभिप्राय यह है कि चूंकि प्रधान प्रणाली में पच्चीस तत्त्वों को अङ्गीकार किया गया है तथा इन तत्त्वों में काल को ग्रहण नहीं किया गया, तो 'प्रधान' तत्त्व को ही काल के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिये।

'न कालो नाम कश्चित् पदार्थोऽस्ति, ----क्रियासु कालसंज्ञा।'[३]

क्रिया में ही काल के रूप को स्वीकार किया गया है।

विज्ञानभिक्षु ने काल को नित्य तथा अनित्य-दोनों रूपों में स्वीकार किया है। उनके अनुसार दिक्-काल नित्य है, तथापि उपाधि विशेष के कारण वे कार्यरूप में परिणत होते हैं—

"दिक्कालौ तावाकाशप्रकृतिभूतौ प्रकृतेर्गुणविशेषावेव, अतो दिक्कालयोविर्भुत्वोपपत्तिः यां तु खण्डदिक्कालौ तौ तत्तदुपाधिसंयोगादाकाशाद् उपपद्येते इत्यर्थः।'[४]

उपर्युक्त उद्धरण से यह अभिप्रेत है कि परवर्ती आचार्यों ने काल को आकाश की तन्मात्रा के रूप में मान लिया।

काल के विभिन्न स्वरूपों का उल्लेख सांख्य सिद्धान्त में इस प्रकार किया गया है—

'कालश्च भूतं, भवद्भविष्यत्, इति व्यवह्रियमाणपदार्थ-व्यतिरेकेन न स्वतन्त्रोऽस्ति।'[५]

---

१. शारीरक भाष्य २.२.१ 'रत्नप्रभा'
२. पराशर संहिता भाष्य, १.२०
३. युक्तिदीपिका, ५०
४. सांख्यप्रवचनभाष्य, खण्ड ६७, पृ० ८२
५. मानसोल्लास, स्तोत्र ४१

अत: यह स्पष्ट है कि सांख्याचार्यों ने काल को पृथक् रूप से एक तत्त्व की दृष्टि से स्वीकार नहीं किया।

योगशास्त्र में काल का विवेचन

योगाचार्यों ने काल की सत्ता को क्षणपर्यन्त ही माना है। उनके अनुसार मुहूर्त्त, यामादि केवल बौद्धिक विकल्प हैं। विज्ञानभिक्षु ने स्पष्ट कहा है कि मुहूर्त्त से प्रारम्भ होकर महाकाल पर्यन्त काल का कोई विभाग नहीं है—

'इदानीं क्षणातिरिक्तः कालो नास्ति मुहूर्त्तादिरूपां महाकालपर्यन्त इति प्रसंगात् स्वशास्त्रसिद्धान्तं अवधार्यति। मुहूर्ताहोरात्रादयो बुद्धिकल्पितसमहारा एव।' [१]

क्षण तथा उसका क्रम पदार्थ में अवस्थित नहीं रहता। अत: मुहूर्त्तादि बौद्धिक विकल्प हो जाते हैं। क्षण ही सत्य है—

'क्षणस्तु वस्तुपतितः क्रमावलम्बी।' [२]

क्षण की ही सत्ता पदार्थ में रहती है। क्षण ही काल का न्यूनातिनून भाग है, इसका विभाजन नहीं किया जा सकता। पदार्थों की तथा क्रिया की सत्ता उस क्षण के प्रवाह-क्रम में ही रहती है। काल की लघुता, दीर्घता—सब सापेक्ष हैं—

'देशदैर्घ्यं यथा नास्ति कालदैर्घ्यं तथाङ्गने।' [३]

योगाचार्यों के कालविषयक विवेचन की समीक्षा करने पर स्पष्ट होता है कि वे काल को क्षण मानते हैं, वे काल की सत्ता क्षणपर्यन्त ही स्वीकार करते हैं। क्षण ही वर्तमान रहता है, जगत् के समस्त क्रिया-कलाप उस वर्तमान क्षण में ही होते हैं। पण्डित रामाज्ञा पाण्डे योगिजन-विषयक काल के सन्दर्भ में इस प्रकार अपना मत प्रकट करते हैं कि योगिजन प्राणसञ्चार के द्वारा काल का सञ्चालन करते हैं और इस प्रकार स्त्रीत्व-पुंस्त्व के द्वारा, अपचय-उपचय के द्वारा तथा अजस्र प्रवृत्तियों के द्वारा समस्त भावों का सम्बन्ध होता है। अत: अतिक्रान्त तथा इन्द्रिय के साथ सम्बन्ध को भूत,

---

१. पातञ्जलयोगसूत्र (योगवार्त्तिक ३.५२)
२. वही-व्यासभाष्य, पृ० ७०-७१
३. योगवाशिष्ठ-२.२०.२२

भविष्यत् तथा इन्द्रिय के साथ सम्बन्ध को भावि तथा वर्तमान तथा इन्द्रिय के साथ सम्बन्ध को वर्तमान जाना जाता है—

'योगिनस्तु प्राणसञ्चारेण कालं कलयन्ति एवञ्च स्त्रीत्वपुंस्त्वाभ्यामपचयोपचयाभ्यामजस्त्रप्रवृत्तिभ्यां सर्वभावानां सम्बन्धः। अतश्च अतिक्रान्तेन्द्रियसम्बन्धं भूतम्। भविष्यदिन्द्रियसम्बन्धं भावि। वर्तमानेन्द्रियसम्बन्धं वर्तमानमिति संक्षेप।' [१]

तात्पर्य यह है कि प्राण के द्वारा सञ्चालित इन्द्रिय के द्वारा जो काल का भाव प्रमाणित हो गया, वह उसी भाव को अङ्गीकार करेगा। यथा जो भाव इन्द्रिय ने अतिक्रान्त कर लिया, वह भूत हो जावेगा, आदि।

अतः स्पष्ट है कि योगाचार्य काल की सत्ता क्षणपर्यन्त स्वीकार करते हैं, भाव के इन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य मानने पर भी वे क्षणपर्यन्त भाव ही ग्रहण करते हैं।

वेदान्त दर्शन में काल-परिभाषा

वेदान्त दर्शन में प्राचीन आचार्यों ने काल को मान्यता नहीं दी है। ब्रह्मसूत्र तथा शाङ्करभाष्य में कहीं भी काल के विषय में विवरण प्राप्त नहीं होता। सिद्धान्तबिन्दु में एक उद्धरण उपलब्ध होता है—

'दिक्कालौ त्वाप्रामाणिकत्वात्रोक्तौ।' [२]

अर्थात् वेदान्तियों ने दिक् तथा काल को अप्रामाणिक माना है, अतः उनके अप्रामाणिक होने से उनके विषय में कुछ भी कहना व्यर्थ है। किन्तु काल विषय को लेकर वेदान्ताचार्यों ने अनेक विवरण दिये हैं, उन्होंने काल को इन्द्रियगम्य भी माना है—

'नीरुपस्यापि कालस्येन्द्रियवेद्यत्वाभ्युपगमेन धारावाहिकबुद्धेरपि पूर्वपूर्वज्ञानविषयतत्तत्क्षणविशेष विशिष्टविषयकत्वेन तत्राव्याप्तिः।' [३]

अर्थात् काल के इन्द्रियगम्य होने के कारण बुद्धि पूर्वपूर्वज्ञानयुक्त विषय को ग्रहण कर लेती है।

---

१. व्याकरणदर्शनभूमिका, पृ० २४४
२. सिद्धान्तबिन्दु, ८
३. वेदान्तपरिभाषा, पृ० ४

वेदान्त शास्त्र में काल को अविद्या के रूप में भी स्वीकार किया गया है—

'कालस्त्वविद्यैव, तस्या एव सर्वाधारत्वात्।'[१]

कहने का अभिप्राय यह है कि चूंकि अविद्या ही सकल पदार्थों का आधार है, अत: अविद्या ही कालस्वरूप है।

वेदान्त दर्शन का अध्ययन करने से यह स्पष्ट होता है कि काल के सम्बन्ध में पूर्वाचार्य मौन हैं, वे काल को पृथक् रूप से एक तत्त्व नहीं स्वीकार करते, जबकि परवर्ती आचार्य काल को विभिन्न प्रकार से प्रस्तुत करते है।

न्याय-वैशेषिक मत में काल

न्यायवैशेषिक दर्शन में काल को नित्य, सार्वभौमिक तत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया है। जगत् में हो रही समस्त क्रियाओं का आधार काल ही है। कणाद का कथन उल्लेखनीय है—

'अपरस्मिन्नपरं युगपत् चिरं क्षिप्रमिति काललिङ्गानि।'[२]

क्रिया के परत्व, अपरत्व के आधार पर ही काल का चिर-क्षिप्र लिङ्ग का ज्ञान होता है, अर्थात् पदार्थों के परत्वापरत्व में जो असमवायि कारण के रूप में उपस्थित रहता है, वह काल है—

'कालस्यैव मार्त्तण्डसंयुक्तस्य पिण्डेन संयोगः परत्वापरत्वयोरसमवायिकारणम्।'[३]

काल स्वयं स्थायी तत्त्व है। डॉ० राधाकृष्णन् स्पष्ट करते हैं कि काल कोई ब्रह्माण्डीय शक्ति नहीं है, जिसके कारण क्रिया होती है, अपितु काल समस्त क्रिया की उपाधि है—

"It is not the cosmic power which causes the movements, but is the condition of all movements." [4]

---

१. सिद्धान्तबिन्दु, ८

२. वैशेषिक सूत्र २.२.६

३. उपस्कारवृत्ति २.२.६

४. Indian Philosophy, Vol.II, p.191.

'कालः परत्वापरत्वव्यतिकरव्यौगपद्यचिरक्षिप्रप्रत्ययलिङ्गम्।'[१]

काल में भेद औपाधिक माना गया है, यथा—एक स्फटिक मणि जपाकुसुम के संयोग से अनेक प्रकार से प्रतिबिम्ब ग्रहण कर लेती है, उसी प्रकार काल भी सूर्य-क्रियाओं के भेद के कारण अनेकानेक क्रियाओं में भेद आने के कारण भेदवान् सा प्रतीत होता है और जिस प्रकार उपाधिभेद के समाप्त हो जाने पर वही स्फटिक स्वच्छ मणि दीख पड़ती है, उसी प्रकार सूर्यक्रियादि के अवच्छेदक भेद के समाप्त हो जाने पर काल अपने वास्तविक रूप में प्रकट हो जाता है—

एक एव स्फटिकमणिर्जैवातपिञ्जाद्युपाध्युपरागेण भिन्न इव भासते, तथैक एव कालः सूर्यस्पन्दनाद्यवच्छेदकभेदेन तत्तत्कार्यावच्छेदकभेदेन च भिन्न इव भासते।'[२]

पूर्ववर्ती वैशेषिकाचार्यों का मत है कि काल ही नित्यानित्य पदार्थों के परिवर्तनों का कारण है—

'नित्येष्वभावादनित्येषु भावात्कारणे कालाख्येति।'[३]

नैयायिकों ने काल के विषय में वैशेषिकों के मत का ही समर्थन किया है। काल के अनुभवगम्य होने के सम्बन्ध में नैयायिकों का मत है कि चूंकि वर्तमान में स्थित पदार्थों का ज्ञान हम को हो जाता है, अतः काल का भी ज्ञान किया जा सकता है। कुछ विद्वान्, काल को प्रत्यक्षगम्य मानते हैं, उनकी मान्यता है कि जिस प्रकार द्रव्यादि का इन्द्रियग्रहण हो जाता है, उसी प्रकार अद्रव्यादि का भी नेत्र ग्रहण होता है—

'द्रव्ये नियम इति चेद् उक्तमत्र यदेव नयनकरणकावगमगोचरे सञ्चरति, तदेव चाक्षुषं रूपवदरुपं वा द्रव्यमद्रव्यं वेति, एवं गुरु द्रव्यमिति कार्तस्वरादौ प्रतिभासाद् गुरुत्वमपि प्रत्यक्षं न पतनानुमेयमेव। एत एव प्रत्यक्षः कालः।'[४]

जयन्त अन्य विद्वानों का मत देते हैं कि दण्डी, देवदत्त अथवा नील उत्पल आदि के समान काल में विषयातिरेक होने से प्रत्यक्ष का अभाव होने से काल को अनुमेय ही जानना चाहिये।[५]

---

१. प्रशस्तपादभाष्य, पृ० ३३२
२. उपस्कारवृत्ति, २.२.८
३. वैशेषिक सूत्र २.२.९
४. न्यायमञ्जरी, पृ० १२५
५. वही, पृ० १३५

काल के प्रत्यक्षगम्य होने तथा अनुमेय होने के सन्दर्भ में कार्ल एच. पोटर कुछ पंक्तियों में समीक्षा प्रस्तुत करते हैं—

"Rather they are infered, or for some Naiyayikas perceived, as the necessary relating principles among physical things which enable those things to be related by relations such as being above or below, before or after further or nearer etc." [1]

नैयायिकों ने काल को सौपाधिक मानने के साथ ही त्रैकालिक भेद से युक्त भी माना है—

'कालोऽपीत्येवं सोपाधिकः काले एव वर्तमानादित्रयव्यवहारः--- ।'[२]

उपर्युक्त विवरण का अवलोकन करने से स्पष्ट हो जाता है कि काल का विस्तृत विवेचन न्याय-वैशेषिक दर्शन में उपलब्ध होता है। 'उनके अनुसार काल इन्द्रियगम्य भी है, अनुमेय भी है तथा त्रिविध प्रकार से उपस्थित है।

काल के विषय में अन्य विद्वानों का मत

ऋग्वेद से प्रारम्भ होकर आज तक काल के विषय को लेकर अनेकानेक प्रकारों से विद्वानों में विचार-विमर्श होता आ रहा है। अनेक आधुनिक पश्चिमी तथा भारतीय विद्वानों ने काल के विषय में अनेक धारणायें बनाईं तथा काल का भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से अध्ययन किया। काल की सत्ता के विषय में कान्ट का कथन इस प्रकार है कि चूंकि काल-क्रम में निश्चित बिन्दु है, अतः क्रम-प्रक्रिया में निश्चित प्रारम्भबिन्दु होना चाहिये। अतः उनका मत है कि काल का निश्चित प्रारम्भ होता है—

"Because there are definite points in the time-series .... therefore the series must have definite beginning point." [3]

---

१. Encylopaedia of Indian Philosophy, p.91.
२. न्यायमञ्जरी, पृ० १३७
३. Encyclopaedia of Religion and Ethics, p.338

काल के विषय में प्लेटो का मत धार्मिक विश्वास से युक्त है। उनका कथन इस प्रकार रहा है कि ईश्वर ने जगत् का निर्माण किया और जगत् को नित्यत्व स्वरूप प्रदान करने की इच्छा से, नित्यत्व का गतिमान् स्वरूप काल के रूप में प्रदान कर दिया। प्लेटो ने भूत तथा भविष्यत् को काल का ही तत्त्व माना है, वे क्रिया के ही रूप हैं—

"......According to Plato, past and future are created species of time, which we wrongly transfer to the eternal essence." [1]

अरस्तु ने काल का विवेचन पौर्वापर्य से सम्बद्ध क्रियाओं की संख्या को काल मान कर किया है। अर्थात् काल का निर्णय क्रियाओं के पौर्वापर्य से युक्त संख्या पर निर्भर करता है—

"Aristotle defines time as the number of motions relative to before and after. [2]

Encyclopaedia में अन्य प्रसिद्ध विद्वान् Leibniz के अनुसार काल की परिभाषा इस प्रकार दी गयी है कि काल पौवापर्य तथा यौगपद्य से सम्बद्ध सम्भव घटनाओं की सम्भव दशाओं (अवस्थाओं) की प्रणाली है।[३]

प्रसिद्ध विद्वान् Liebniz का अभिप्राय है कि जगत् का समस्त प्रक्रिया-क्रम काल में आबद्ध है।

एक अन्य पश्चिमी विद्वान् Simone Weit काल को वह शक्ति मानते हैं जो हमारे क्रिया-कलापों को नियन्त्रित करती है—

"Time is what limits our actions, it is in a way the only sign of our weakness, (one can not return to the past, nor obtain something at once.) [4]

काल को नियामक शक्ति के रूप में आधुनिक विद्वान् ने स्वीकार किया है। सभी क्रियायें काल के गर्भ में निहित रहती हैं, जिनमें केवल

---

१. Encylopaedia of Religion and Ethics, p.343.
२. Ibid.,p.344
३. Ibid.
४. Lectures on Philosophy, p.110

वर्तमान होता है। भूतकाल की क्रियाओं का साक्ष्य नहीं कर सकते और न ही भविष्यत् के सन्दर्भ में कुछ ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

उपर्युक्त अनेक पाश्चात्य विद्वानों के मतों का अवलोकन करने के पश्चात् भारतीय विद्वानों द्वारा दी गयी काल-सम्बन्धी परिभाषाओं पर भी विचार कर लेना समीचीन होगा।

डॉ० के० सी० वरदाचारी का मत है कि काल अनेक विभिन्नताओं के प्रकट रूपों का रहस्य है जो मन्दातिमन्द से प्रारम्भ होकर तीव्रातितीव्र क्रियाओं तक फैल जाता है—

"Time is thus a mystry of the manifestation of the diversity extending from the most slow and spread out to the most speedy and concentrated movements".[1]

डॉ० एस० के० वर्मा के शब्दों में —

'काल क्रिया की सबसे बड़ी शक्ति है। 'क्रम' और 'साध्यता' की दृष्टि से काल सबसे बड़ा घटक ठहरता है।'[२]

अतः सभी आधुनिक विद्वानों ने काल को क्रिया का घटक माना है। क्रिया की संज्ञा के द्वारा ही तथा क्रिया के स्वरूप के द्वारा काल के स्वरूप तथा क्रमादि का निश्चय होता है। विद्वानों ने काल को विभिन्न जागतिक क्रियाओं का मूल माना है, काल का यही त्रैकाल्य रूप जगत् में दृष्टिमान है और उसी स्वरूप से जगत् में जीवन है।

---

१. Time and Mysticiam, p.168. JGRI
२. व्याकरण की दार्शनिक भूमिका, पृ० ४११

तृतीय अध्याय

लिङ्ग

संसार के समस्त प्राणियों, अथवा वस्तुओं अथवा उनके समुदायों का विभाजन-विश्लेषण लिङ्ग के आधार पर होता है। लिङ्ग के द्वारा व्यक्ति अथवा वस्तु का बाह्य ज्ञान प्राप्त हो जाता है। लिङ्ग का अर्थ प्रत्यायक-चिह्न अथवा संकेत-ग्रह है। किसी भी व्यक्ति अथवा वस्तु को तद्रूपी अथवा तद्भिन्न वस्तु अथवा व्यक्तियों से पृथक् रखने के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि उसका विशेष रूप हो, उसकी विशेष पहचान हो, यही विशेष रूप अथवा पहचान लिङ्ग कहलाती है।

आचार्य दुर्गसिंह ने लिङ्ग का विश्लेषण करते हुये कहा है—

'स्त्रीपुंनपुंसकत्वेन भिन्नं येन चराचरम्
लिङ्गं जयति तन्नित्यमशेषागमकारणम्।'[१]

सामान्यतया लिङ्ग का अर्थ स्त्री-पुंस तथा नपुंसक का भेदक-चिह्न माना गया है।

शब्दकल्पद्रुम कोश में लिङ्ग के लिये इस प्रकार उद्धृत है (लिङ्ग्यते अनेन इति) चिह्नम् यथा महाभारते १।२।१२—

'येन लिङ्गेन यो देशो युक्तः समुपलक्ष्यते
तेनैव नाम्ना तं देशं वाच्यमाहुर्मनीषिणः।'[२]

कोशकार ने लिङ्ग से प्रत्यायक चिह्न अर्थ ही ग्रहण किया है, किन्तु वाङ्मयार्णव कोश में लिङ्ग का अनेक अर्थों में प्रयोग दर्शाया गया है— स्त्री-पुरुष का भेद बताने के साथ-साथ चिह्न के रूप में आदि—

---

१. लिङ्गानुशासनम्, १.
२. शब्दकल्पद्रुमकोश, पृ० २१७.

'स्त्रीपुंसादेश्च संस्थाने शरीरे चिह्नशेफयोः
प्रव्रज्यायामवयवे वेषे वंशे बुद्ध्यनुमानयोः ।'[१]

अमरसिंह ने लिङ्ग से पुल्लिङ्ग का ही बोध लिया है—

'शेफः इत्यमरः'[२]

आधुनिक कोशकार लिङ्ग से प्रत्यायक चिह्न अर्थ ही ग्रहण करते हैं। पाश्चात्य विद्वान् मेक्डानल ने अपने कोश में लिङ्ग का अर्थ प्रत्यायक-चिह्न ही दिया है—

"(Anything attaching to an object), mark, token, sign, emblem characteristic."[3]

मोनियर विलियम्स व्याकरण का अभिमत देते हैं—लिङ्ग-प्रत्यायक—

"Gender (in grammar)".[4]

व्युत्पत्यात्मक रूप से 'लिगि चित्रीकरणे' अर्थ में चुरादिगण की धातु आचार्य पाणिनि ने मानी है। तदनन्तर लिङ्गम्-घञ्-लिङ्गम्-नपुंसकलिङ्ग में बनता है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृत व्याकरण-परम्परा ने लिङ्ग का अर्थ स्त्री-पुंस तथा नपुंसक-बोधक प्रत्यय माना है।

लौकिक प्रयोग में सामान्य प्राणि-जगत् का विभाजन, उनको एक-दूसरे समूह से पृथक् करने वाले प्रत्यायक-लिङ्ग के आधार पर होता है तथा उसी आधार पर निर्जीव पदार्थों का भी लिङ्ग-ज्ञान निश्चित होता है तथा अलौकिक पदार्थों का भी लिङ्ग-निर्धारण इसी प्रकार होता है।

स्त्री-पुंस तथा नपुंसक लिङ्ग का निर्धारण प्राचीन वैयाकरणों तथा भाषाविदों ने गहन अध्ययन के पश्चात् कतिपय चिह्नों के आधार पर किया।

लिङ्ग विषय को लेकर प्राचीन वैयाकरणों में महाभाष्यकार पतञ्जलि ने जितना गहन अध्ययन किया, वह सर्वथा ही प्रशंसनीय है।

---

१. वाङ्मयार्णव कोश, ४८७३
२. शब्दकल्पद्रुम, पृ० २१७
३. Sanskrit-English Dictionary, p.262.
४. Ibid., pp.901-2

'स्त्रियाम्'[१] सूत्र की व्याख्या करते हुये महाभाष्यकार प्रश्न करते हैं कि 'स्त्री' किसको माना जाय? अर्थात् स्त्री-पुंस तथा नपुंसक भेद किस आधार पर निश्चित होता है? कैयट का अभिप्राय इस प्रकार है कि चूंकि शास्त्र में स्त्रीवाची शब्द की परिभाषा नहीं की गयी है तथा लोक में देखने में यह आता है कि खट्वादि में स्त्री-व्यवहार का अभाव होता है, अतः लोक में कहीं स्त्रीग्रहण में अव्याप्ति होती है और कहीं अतिव्याप्ति—

'--इह च शास्त्रे स्त्रियां अपरिभाषितत्वात् लोके च खट्वादिषु स्त्रीव्यवहाराभावाल्लौकिक स्त्रीग्रहणेऽव्याप्ति व्याप्तिदर्शनात् प्रश्नः ।[२]

लोक में लिङ्ग के आधार पर ही स्त्री-पुमान् तथा नपुंसक में विभेद-ग्रहण होता है। अधोलिखित श्लोक वार्त्तिक से लिङ्ग-विभेद स्थापन स्पष्ट होता है—

'स्तनकेशवती स्त्री स्याल्लोमशः पुरुषः स्मृतः ।
उभयोरन्तरं यच्च तदभावे नपुंसकम् ।'[३]

स्तन, केशादि स्त्री के परिचायक हैं तथा लोमादि पुरुष के परिचायक हैं, जहां इन दोनों-स्त्री व पुंस, का अभाव होता है वहां नपुंसक लिङ्ग समझना चाहिये।

कैयट ने अभिप्राय इस प्रकार स्पष्ट किया है। कि स्तनकेशादि के लोकप्रसिद्ध होने के कारण अन्यों में भी स्त्री की प्रतिपत्ति का उपलक्षण-गोत्वादि के समान सामान्य-विशेष-जातिभेद से किया गया है—'स्तनकेशञ्च प्रसिद्धत्वादन्यस्यापि स्त्रीप्रतिपत्तिनिमित्तस्य कुमार्यादिगतस्य उपलक्षणम् तदनेन स्त्रीत्वादीनां स्तनाद्युपव्यञ्जनानां गोत्वादिवत्सामान्य विशेषत्वं दर्शितम्।'

वे वाक्यपदीयकार का उद्धरण प्रस्तुत करते हैं कि स्त्रीत्वादि हस्त्यादि में समवाय रूप से रहती है।[४]

'उभयोरन्तरं' तथा 'तदभावे' पदों को कैयट ने साभिप्राय माना है। उन्होंने अभयोरन्तरं से अभिप्राय लिया है कि दोनों (स्त्री व पुमान्) का

---

१. महाभाष्य ४.१.१.३ सूत्र
२. वही 'प्रदीप'
३. महाभाष्य ४.१.१.३. सूत्र
४. वही 'प्रदीप'

लिङ्ग के कारण सादृश्य और सादृश्य के कारण अव्यय और आख्यातार्थ में नपुंसकत्व नहीं होगा—

'उभयोरन्तरमिति-लिङ्गवत्वेन सदृशमित्यर्थः,
तेनाव्ययाख्यातार्थस्य नपुंसकत्वाभावः।'[१]

'तदभावे' के सम्बन्ध में कैयट का कथन है कि मयूरी-कुक्कुटादि स्त्री-पुल्लिङ्गवाची शब्दों के समुदायों में नपुंसकत्व न हो। समुदाय समुदायी के सदृश होता है, इस अभिप्राय से यहां (प्रस्तुत प्रसंग में) नपुंसक लिङ्ग की प्राप्ति हो जाती है। 'परवल्लिङ्गं ,द्वन्द्वतत्पुरुषयोः', सूत्र के आधार पर समुदाय में परवर्ती पद के अनुसार लिङ्ग हो—इसके अतिदेश से. नपुंसकत्व का निराकरण हो जाता है।[२]

अव्ययार्थों के लिङ्गत्व के सन्दर्भ में नागेश का मत है कि लिङ्गयोग सत्त्वभूतों में हो सकता है, असत्त्वभूतों में नहीं और अव्ययार्थ असत्त्वभूत हैं—

'अव्ययार्थानामसत्त्वभूतत्वान्न लिङ्गयोग इति भावः।'[३]

हेलाराज की मान्यता है कि यदि महाभाष्यकार 'उभयोरन्तरम्' पद ही कहते, 'तदभावे' पद न रखते तो कुक्कुटमयूर्यों जैसे समस्त लिङ्ग-पदों में नपुंसकत्व ही होता—

'उभयोरन्तरमित्येतावत्युक्ते कुक्कुटमयूर्याविति लिङ्गसमुदायविषये नपुंसकत्वं स्यादित्युभयमुपात्तम्।'[४]

लिङ्ग-बोधक परिभाषा के सन्दर्भ में पूर्वपक्ष के आचार्यों का मत है कि यदि उपर्युक्त परिभाषा को मान्य माना जाय तो स्त्रीवेशधारी नर (भ्रूकुंस) में तदनुसार टाप् प्रत्यय हो जाना चाहिये—

'लिङ्गात् स्त्रीपुंसयोर्ज्ञाने भ्रूकुंसे टाप्प्रसज्यते।'[५]

---

१. महाभाष्य ४.१.१.३ 'प्रदीप'
२. वही 'प्रदीप'
३. वही 'उद्योत'
४. वाक्यपदीय ३.१३.२
५. महाभाष्य ४.१.१.३. सूत्र

महाभाष्यकार दूसरा आक्षेप प्रस्तुत करते हैं कि यदि लोक में ऊपर उद्धृत चिह्नों के आधार पर ही यह ज्ञान होता है कि अमुक व्यक्ति पुरुष है तो फिर 'चञ्चाः पश्य', 'वध्रिकाः पश्य', 'खरकुटीः पश्य'—इन पदों में 'तस्माच्छसो नः पुंसि से नत्व होना चाहिये (क्योंकि लोक में ये व्यक्ति पुमान् ही प्रतीत होते हैं—'इति नत्वं प्राप्नोति।'[१] वाक्यपदीय की टीका में श्री रघुनाथ शर्मा इस प्रकार अभिव्यक्त करते हैं—

'खरकुटी नापितगृहमुच्यते। सा इव केशलोमावृतो ब्राह्मणः 'खरकुटी' उच्यते। 'इवे प्रतिकृतौ (पा० ५.३.९६) इति विहितस्य कनः-'लुम मनुष्ये' (पा० ५.३.९८) इति लुप्। तान् खरकुटीब्राह्मणान् पश्य इत्यत्र नत्वं प्रसज्यते ब्राह्मणेषु पुंस्त्वलिङ्गस्य दर्शनात्।'[२]

तात्पर्य यह है कि ब्राह्मण में पुंस्त्वलिङ्ग वाच्य होने से 'खरकुटी' में भी पुंस्त्व होना चाहिये। महाभाष्यकार एक अन्य आक्षेप प्रस्तुत करते हैं कि उपर्युक्त परिभाषा के आधार पर तो खट्वा-वृक्ष में लिङ्ग साध्य नहीं होता है—

'खट्वावृक्षयोश्च लिङ्गं न सिध्यति, यद्धि लोके दृष्ट्वैतदवसीयत 'इयं स्त्री' 'अयं पुमानिति' न तत्खट्वावृक्षयोरस्ति।'[३] तात्पर्य यह है कि खट्वा-वृक्ष में तो स्त्री-पुंसवाची चिह्न दृष्टिगत नहीं होते फिर इन दोनों पदों को स्त्री-पुंस की श्रेणी में किस तरह माना गया है। अर्थात् खट्वा-वृक्ष तो निर्जीव पदार्थ है और लिङ्ग-प्रत्यायक चिह्न सजीव प्राणियों के हैं जो खट्वा व वृक्ष में कदापि प्राप्त नहीं होते, तो फिर इनका तो लिङ्ग-ज्ञान नहीं हो पाएगा। तात्पर्य यह है कि उपर्युक्त परिभाषा की कहीं तो अव्याप्ति होती है तथा कहीं अतिव्याप्ति।

खट्वा-वृक्ष में लिङ्ग-ज्ञान के सन्दर्भ में समाधान यह है कि खट्वा तथा वृक्ष का लिङ्ग न होते हुये भी देखना चाहिये, यथा तृषित मृग जल की धारा को देखते हैं, जबकि वास्तव में जल की धारा नहीं होती है, उसी प्रकार खटवा व वृक्ष में लिङ्ग असत् होते हुये भी सत् मानना चाहिये—

---

१. वही
२. वाक्यपदीय ३.१३.२
३. महाभाष्य ४.१.१.३. सूत्र

'असत्तु खट्वावृक्षयोर्लिङ्गं द्रष्टव्यम्----तद्यथा-मृगास्तृषिता अपां धाराः पश्यन्ति, न च ताः सन्ति।'[१]

नागेश का अभिप्राय इस प्रकार है कि वह जल बुद्धि में तो स्थित है, किन्तु वास्तविकता में नहीं है—

'तत्रादविद्यमानमित्यर्थः बुद्धौ तु सदितिभावः।'[२]

खट्वा-वृक्ष के लिङ्ग-निर्धारण के सन्दर्भ में महाभाष्यकार एक अन्य समाधान प्रस्तुत करते हैं—

'यथा गन्धर्वनगराणि दूरतो दृश्यन्ते, उपसृत्य च नोपलभ्यन्ते तद्वत्खट्वावृक्षयोरसल्लिङ्गं द्रष्टव्यम्।'[३]

खट्वा तथा वृक्ष के लिङ्ग गन्धर्वनगर के समान देखना चाहिये। जिस प्रकार गन्धर्वनगर दूर से दृष्टिगत होते हैं, समीप जाने पर इनका प्रत्यक्ष नहीं होता (लेकिन फिर भी गन्धर्वनगर असत् होते हुऐ भी सत् हैं), उसी प्रकार खट्वा व वृक्ष का लिङ्ग भी असत् होते हुये सत् मानना चाहिये। इस सन्दर्भ में कैयट ने वाक्यपदीयकार द्वारा उद्धृत कारिकाओं का उल्लेख किया है—

'यथा सलिलनिर्भासो मृगतृष्णासु जायते
जलोपलब्ध्यनुगुणाद्बीजाद्बुद्धिजलेऽसति।
तथैवाव्यपदेश्येभ्यो हेतुभ्यस्तारकादिषु
मुख्येभ्य इव लिङ्गेभ्यो भेदा लोके व्यवस्थिताः।'[४]

वाक्यपदीयकार का अभिप्राय है कि मृगतृष्णा में मरुमरीचिका में जल का आभास होता है तथा जल की बुद्धि का ग्रहण होता है, उसी प्रकार तारका, पुष्य, नक्षत्रादि अचेतन पदार्थों में अविद्यमान होते हुये भी लिङ्ग-ग्रहण होता है। महाभाष्यकार एक अन्य मत प्रस्तुत करते हैं कि जिस प्रकार आदित्य में गति होते हुये भी उपलब्ध नहीं होती, उसी प्रकार खट्वा-वृक्ष

---

१. वही
२. वही 'उद्योत'
३. महाभाष्य ४.१.१.३ सूत्र
४. वही ४.१.१.३ सूत्र

में भी उत्तर-पक्ष के अनुसार लिङ्ग है, पर उपलब्ध नहीं होता। अतः खट्वावृक्ष के लिङ्ग का ग्रहण आदित्य की गति के समान करना चाहिये—

'अथवा यथाऽऽदित्यस्य गतिः सती नोपलभ्यते, तद्वत्खट्वावृक्षयोः। सल्लिङ्गं नोपलभ्यते।'[१]

कैयट का अभिप्राय है कि आदित्य की गति का प्रत्यक्ष द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता, किन्तु किसी अन्य स्थान पर जाने पर उसकी गति का अनुमान किया जा सकता है, उसी प्रकार खट्वा तथा वृक्ष का लिङ्ग होते हुये भी सूक्ष्म होने के कारण उसका प्रत्यक्ष-ग्रहण नहीं किया जा सकता, अपितु तत्कृत कार्य को देखने से ही लिङ्ग का अनुमान किया जाता है—

'यथा आदित्यगतिः सति प्रत्यक्षेण नोपलभ्यते देशान्तरप्राप्त्यानुमीयते तथा खट्वावृक्षयो सदपि लिङ्गं सूक्ष्मत्वात्प्रत्यक्षेणाशक्यं ग्रहीतुं, तत्कृतकार्यदर्शनादनुमीयते।'[२]

खट्वा व वृक्ष का लिङ्ग ग्रहण एक अन्य प्रकार से हो सकता है, जिस प्रकार वस्त्र से आवृत्त द्रव्यों का ग्रहण नहीं हो सकता, उसी प्रकार खट्वा तथा वृक्ष का लिङ्ग होते हुये भी लिङ्ग ग्रहण प्रत्यक्षतः नहीं हो सकता। अभिप्राय यह है कि खट्वा तथा वृक्ष का लिङ्ग ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि वह सत् है, किन्तु दृष्टिगत नहीं होता—

'यथा वस्त्रान्तर्हितानि द्रव्याणि नोपलभ्यन्ते तद्वत्खट्वावृक्षयोः सल्लिंङ्गं नोपलभ्यते।'[३]

पूर्वपक्ष का आक्षेप है कि वस्त्र के आवरण को हटा देने पर वस्त्र से आच्छादित द्रव्यों का ग्रहण हो जाता है, किन्तु रथकार खट्वा व वृक्ष के कितने ही टुकड़े क्यों न कर दे, फिर भी खट्वा व वृक्ष में लिङ्ग-ग्रहण नहीं होगा। टीकाकर कैयट मानते हैं कि खट्वा तथा वृक्ष में लिङ्ग की अत्यन्तानुपलब्धि है, शशविषाणवत्—

---

१. महाभाष्य ४.१.१.३ सूत्र
२. वही 'प्रदीप'
३. वही सूत्र

'----अत्यन्तानुपलब्धस्य तु शशविषाणादिवत् खट्वादौ लिङ्गस्यासत्वमेवेत्यर्थः।'[१]

खट्वा तथा वृक्ष में लिङ्ग सत् है किन्तु उसकी उपलब्धि नहीं हो रही है, उस अनुपलब्धि के अनेक कारण हैं, महाभाष्यकार उद्धृत करते हैं—

'षड्भिः प्रकारैः सतां भावानामनुपलब्धिर्भवति, 'अतिसन्निकर्षादतिविप्रकर्षान्मूर्त्यन्तरव्यवधानात्तमसावृत्तत्वादिन्द्रियदौर्बल्यादतिप्रमादादिति।'[२]

सत् प्रदार्थ की उपलब्धि नहीं होती है—अत्यधिक सामीप्य से, कैयट ने उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया है—नेत्र में स्थित अञ्जन—'यथा स्वचक्षु-गर्तस्याञ्जनादेः।' अत्यधिक दूरी होने से सत् पदार्थ की उपलब्धि नहीं होती—'यथोड्डीनस्य शकुनेः' बहुत ऊंचाई पर उड़ते हुये पक्षी का ज्ञान नहीं होता। मध्य में किसी अन्य व्यवधान के आ जाने से-'कुड्यादिविहितस्य सुवर्णादेः, अर्थात् मध्य में दीवारादि के व्यवधान के कारण सुवर्णादि का ग्रहण नहीं होता। तमस् से आवृत्त होने के कारण, कैयट ने स्पष्ट किया है—'अन्धकाराक्रान्तस्य श्वभ्रादेः'—अर्थात् अन्धकार के कारण गर्त का न दीखना। इन्द्रिय-दौर्बल्य से पदार्थ-ग्रहण होना—'तिमिरावृत्तस्य नयनादेः'-अर्थात् नेत्र की दृष्टि क्षीण होने पर वस्तु का ज्ञान नहीं होता तथा अति प्रमाद से सत् पदार्थ का ग्रहण नहीं होता, कैयट का कथन है—'विषयान्तरासक्तचित्तत्वादित्यर्थः। यथा—विषयान्तर में आसक्त चित्त वाले व्यक्ति को वस्तु ज्ञान नहीं होता।

सांख्याचार्य ईश्वरकृष्ण ने अनुपलब्धि के आठ कारण बताये हैं, उन्होंने तीन कारण भिन्न बताये हैं—पदार्थ का अतिसूक्ष्म होना, तिरस्कृत होना तथा सदृश वस्तु में मिल जाना। कारिका इस प्रकार उद्धृत है—

'अति दूरात् सामीप्यात् इन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात्।
सौक्ष्म्याद् व्यवधानात् अभिभवात् समानाभिहाराच्च।'[३]

महाभाष्यकार स्पष्ट करते हैं कि इन कारणों में से कोई कारण तो होगा, जिससे खट्वा-वृक्ष में लिङ्ग ग्रहण नहीं हो पा रहा। कैयट की

---

१. महाभाष्य ४.१.१.३ सूत्र 'प्रदीप'
२. वही ४.१.१.३ सूत्र
३. सांख्यकारिका-७.

मान्यता है कि अनुपलब्धि के छह कारणों से सत् व असत् दोनों ही पदार्थों का ग्रहण नहीं होता तथा खट्वादि में सर्वदा ही लिङ्ग की उपलब्धि नहीं होती, अतः इसमें सन्देह है कि खट्वादि में लिङ्ग है भी अथवा नहीं—'सतामसतां चानुपलम्भात्, खट्वादिषु सर्वदा लिङ्गानुपलम्भात् सदसत्त्वविषयः सन्देह इति प्रश्नः।'[१]

लिङ्गनिर्धारण शब्दों का विवेचन करके हो जाता है, अर्थात् पदार्थों का लिङ्ग-ज्ञान स्त्री व पुंसकृत शब्दों को देखकर हो जाता है—'तयोस्तु तत्कृतं शब्दं दृष्ट्वा, स्त्रीकृतं शब्दं दृष्ट्वा 'स्त्री' त्यवसीयते, पुंस्कृतं शब्दं, दृष्ट्वा 'पुमानिति, यथाकाशेन ज्योतिषः।'[२]

स्त्रीवाची शब्दों में टाप् तथा पुंवाची शब्दों में 'नत्व' कार्य देखकर उन शब्दों के कारणभूत लिङ्ग का अनुमान किया जाता है, कैयट के शब्दों में—

'स्त्रीपुंसकार्यं दृष्ट्वा टाब्नत्वादिकं दृष्ट्वा कारणभूतलिङ्गानुमानं क्रियते इत्यर्थः।'[३]

शब्दप्रयोग व लिङ्गज्ञान 'अन्योन्याश्रित होता है। किसी स्थान पर लिङ्ग-ज्ञान से शब्दप्रयोग होता है तथा किसी स्थान पर शब्दप्रयोग से लिङ्ग ज्ञान होता है, यथा—कहीं स्त्रीलिङ्ग तत्सम्बद्ध का कारण होता है तो अन्य स्थल पर शब्द स्त्रीत्व का कारण होता है—

'अन्योन्यसंश्रयत्वेतद् भवति, स्त्रीकृतः शब्दः, शब्दकृतं च स्त्रीत्वम्।'[४]

किन्तु खट्वादि में तो लिङ्ग ज्ञान में अन्योन्याश्रय नहीं है। खट्वादि में तो लिङ्ग ज्ञान ही ग्रहण नहीं हो रहा, फिर शब्द के साथ लिङ्ग-ज्ञान का कार्यकारण भाव सम्भव नहीं हो सकता—

'इतरेतराश्रयाणि च न प्रकल्पन्ते।'[५]

खट्वा-वृक्ष का सत् लिङ्ग ग्रहण नहीं होता, इस निर्धारण में प्रत्यक्ष विरोध भी है, क्योंकि जब खट्वा-वृक्ष में लिङ्ग है नहीं तो उसका

---

१. महाभाष्य ४.१.१.३ सूत्र 'प्रदीप'
२. वही ४.१.१.३ सूत्र
३. वही 'प्रदीप'
४ वही सूत्र
५. महाभाष्य ४.१.१.३ सूत्र

इन्द्रियग्राह्य नहीं होगा। अतः खट्वा-वृक्ष का प्रत्यक्ष विरोध होता है, अतः लिङ्ग निर्धारण नहीं हो सकता। महाभाष्यकार का अभिप्राय उद्धृत है—

'प्रत्यक्षेण विरुध्यते।'खट्वावृक्षयोः सल्लिङ्गं नोपलभ्यते' इति तत्र स्वेन्द्रियं विरोधः कृतो भवति न च नाम स्वेन्द्रियविरोधिकाभवितव्यम्।'[१]

कैयट का मन्तव्य है कि यदि प्रत्यक्ष से इन्द्रिय-दौर्बल्य के कारण लिङ्गग्रहण नहीं हो पा रहा, तब अनुमानादि के सदृश ही लिङ्ग ग्रहण करना चाहिये।[२]

नागेशभट्ट का अभिमत है कि अनुमान से तथा स्वेन्द्रियप्रत्यक्ष विरोध से लिङ्ग-ज्ञान नहीं होना चाहिये—

'अनुमानेन च स्वेन्द्रियजप्रत्यक्षविरोधिना न भवितव्यमित्यर्थः।'[३]

जिस प्रकार स्त्री व पुमान् विषयक परिभाषा से खट्वा तथा वृक्ष के लिङ्गनिर्धारण में कठिनाई आ रही है, उसी प्रकार 'तट' शब्द के लिङ्ग-ग्रहण में भी पूर्वपक्ष को आपत्ति है।[४]

तात्पर्य यह है कि 'तट' शब्द में तीनों लिङ्ग प्रयुक्त हुये दृष्टिगत होते हैं तो 'तट' में किस लिङ्ग का अवधारण समझा जाय, अर्थात् 'तट' को स्त्रीवाची, माना जाय, पुल्लिङ्गवाची अथवा नपुंसकवाची माना जाय? पूर्वपक्ष का आक्षेप यह है कि इस प्रकार का लिङ्ग-निर्धारण सन्देहास्पद है। कैयट का कथन है कि स्त्री व पुल्लिङ्ग के होते हुये नपुंसकलिङ्ग नहीं होगा, क्योंकि व्याख्या में पूर्व में ही कहा जा चुका है—'तदभावे नपुंसकम्', अर्थात् जहां स्त्री वपुल्लिङ्ग नहीं होंगे, वहीं नपुंसकलिङ्ग होगा—

'स्त्रीपुंस्सद्भावे च नपुंसकत्वं न स्यात् तदभावे नपुंसकमिति वचनात्।'[५]

---

१. वही
२. वही 'प्रदीप'
३. महाभाष्य ४.१.१.३ सूत्र 'प्रदीप'
४. वही ४.१.१.३ सूत्र
५. वही 'प्रदीप'

उपर्युक्त इतने मतों-मतान्तरों, आक्षेपों उत्तरों का अध्ययन करने से महाभाष्यकार निष्कर्ष रूप में कहते हैं कि वैयाकरण लौकिक लिङ्ग-निर्धारण नहीं कर सकता, अतः इस लिङ्ग निर्धारण के लिये कोई स्वसिद्धान्त होना चाहिये और वह स्वसिद्धान्त है—

'संस्त्यानप्रसवौ लिङ्गमास्थेयौ स्वकृतान्ततः।'[१]

अर्थात् संस्त्यान व प्रसव लिङ्ग-बोधक के रूप में स्वतः सिद्ध है। कैयट ने 'संस्त्यान' का अर्थ तिरोभाव माना है।[२]

व्युत्पत्यात्मक रूप में संस्त्यान में 'स्त्यै' धातु से ड्रट् प्रत्यय लग कर 'स्त्री' शब्द बना तथा प्रसव अर्थ में षूङ्' धातु से 'सप्' बनकर, सकार को पकार होकर 'पुमान्' शब्द की व्युत्पत्ति हुयी—

'संस्त्याने स्त्यायतेर्ड्रट् स्त्री सूतेः सप् प्रसवे पुमान्।'[३]

यही व्युत्पत्ति लोक-व्यवहार में दृष्टिगत होती है, 'स्त्री' शब्द 'अधिकरण' अर्थ में ग्रहण होता है और उत्पन्न करने के अर्थ में 'पुमान् बोधित होता है, महाभाष्यकार का कथन है—

'स्त्यायत्यस्यौ गर्भ इति। कर्तृसाधनश्च पुमान्-'सूते पुमानिति।'[४]

महाभाष्यकार के मत में शास्त्र में दोनों ही शब्द भावसाधन के रूप में प्रयुक्त होते हैं, अर्थात् 'स्त्री' शब्द संस्त्यान-तिरोधान अर्थ में प्रयुक्त होता है तथा 'पुमान्' प्रवृत्ति अर्थात् आविर्भाव अर्थ में प्रयुक्त होता है—

'संस्यानं स्त्री प्रवृत्तिश्च पुमान्।'[५]

कैयटनेस्त्री, पुंस तथा नपुंसक से सम्बन्धित तीनों अवस्थाओं का विवरण दिया है—

'संस्त्यानमिति तिरोभावः, प्रवृत्तिराविर्भावः, साम्यावस्था स्थितिः।'[६]

---

१. वही ४.१.१.३ सूत्र
२. महाभाष्य ४.१.१.३ सूत्र 'प्रदीप'
३. वही सूत्र
४. वही
५. वही
६. वही 'प्रदीप'

नपुंसक लिङ्ग में दोनों-स्त्री व पुंस की साम्यावस्था होती है अतः वह स्थिति अवस्था कहलाती है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध—इन गुणों का आविर्भाव व तिरोभाव ही स्त्री तथा पुमान् है—

"कस्य पुनः संस्त्यानम् स्त्री प्रवृत्तिर्वा पुमान्? गुणानाम्, शब्दस्पर्शरूपरसगन्धानाम्। सर्वाश्च पुनर्भूर्तय एवमात्मिका- संस्त्यानप्रसवगुणाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धवत्यः।'[१]

तात्पर्य यह है कि जगत् के समस्त पदार्थ संस्त्यान व प्रसव से युक्त शब्द, स्पर्श, रूप, रस व गन्धवान् गुणों से सम्पृक्त हैं। यहां महाभाष्यकार संस्त्यान व प्रसव की प्रक्रिया का उल्लेख करते हुये सांख्य की सृष्टि-प्रक्रिया से प्रभावित जान पड़ते हैं, सांख्य सिद्धान्त के अनुसार प्रकृति त्रिगुणात्मिका है—सत्त्व, रजस् व तमोमय। इन गुणों के संयोग से महदादि, ततः, क्रम से पञ्च तन्मात्रायें—शब्द, स्पर्श, रूप, रस व गन्ध तथा इन तन्मात्राओं के संयोग से आकाशादि पञ्चभूतों की सृष्टि होती है। टीकाकार कैयट ने महाभाष्यकार द्वारा उद्धृत गुणों के विवेचन में सांख्य प्रभाव को स्वीकार किया है—'गुणानामिति सत्त्वरजस्तमांसि गुणास्तत्परिणामरूपाश्च तदात्मका एव शब्दादयः पञ्चगुणाः तत्संघातरूपं च घटादि। न तु तद्व्यतिरिक्तमवयवी द्रव्यमस्तीति सांख्यानां सिद्धान्तः।'[२]

हेलाराज ने भी महाभाष्यकार को सांख्यदर्शन से प्रभावित माना है।[३]

जिन पदार्थों में गुण अल्प मात्रा में रहते हैं वहां शब्द, स्पर्श व रूप ये तीन गुण होते हैं, रस व गन्ध कदाचित् ही उपलब्ध होते हैं—

'यत्राल्पीयांसो गुणास्तत्रावरतस्त्रयः—
शब्दः, स्पर्शः रूपमिति, रसगन्धौ न सर्वत्र।'[४]

नागेश भट्ट ने यहां शब्द, स्पर्श आदि से सत्त्व, रजस् तथा तमोगुण का संकेत लिया है।

---

१. महाभाष्य ४.१.१.३ सूत्र
२. वही 'प्रदीप'
३. वाक्यपदीय ३.१३.१. 'टीका'
४. महाभाष्य ४.१.१.३. सूत्र

'भाष्ये-शब्दस्पर्शेत्याद्युपलक्षणं सत्त्वरजंस्तमः कार्यमात्रस्य।'[1]

रस व गन्ध के सर्वत्र उपलब्ध न होने से अभिप्राय है कि पिण्डीभूत पदार्थ जो चक्षुगोचर हैं उनमें रस व गन्ध का अभाव होता है। कैयट व नागेश भट्ट का अभिप्राय यह है कि वायु व आकाश के इस मूर्त रूप में उपलब्ध न होने के कारण रस व गन्ध सर्वत्र उपलब्ध नहीं होते—

'संपिण्डितस्वभावाश्चक्षुर्गोचरा मूर्त्तिशब्देनात्र विवक्षिताः रसगन्धाविति। वाय्वाकाशयोरभावात्।'

"वाय्वाकाशयोरेवंरूपत्वाभावेन ताविह न विवाक्षितावित्यर्थः।'[2]

पदार्थों में लिङ्ग नित्य रूप से व्याप्त है। महाभाष्यकार का मत है कि कोई भी पदार्थ क्षणभर भी स्थिर नहीं रह सकता या तो वह बढ़ता रहता है, या फिर वह समाप्त हो जाता है। अतः जागतिक पदार्थों में आविर्भावप्रवृत्ति व तिरोभाव-निवृत्ति-पुंस व स्त्रीबोधक तत्त्वों के रूप में सर्वत्र विद्यमान रहते हैं महाभाष्यकार की मान्यता है—'प्रवृत्तिः खल्वपि नित्या, न हीह कश्चिदपि स्वस्मिन्नात्मनि मुहूर्त्तमप्यवतिष्ठते, वर्द्धते वा यावदनेन वर्द्धितव्यम्, अपायेन वा युज्यते। तच्चोभयं सर्वत्र।"[3]

पण्डित रामाज्ञा पाण्डेय सत्वादि गुणों का विवरण इस प्रकार देते हैं—

'तत्र प्रकाराः प्रसवः आविर्भावः सत्त्वधर्मः, प्रवृत्ति क्रिया रजोधर्मः, वरणं तिरोभावः स्थितिस्तमोधर्मः। एत एव धर्मा लिङ्गम्।'[4] अर्थात् सत्त्वादि गुणों की प्रसवादि क्रिया को लिङ्ग के रूप में स्वीकार किया गया है।

कैयट पुनः सांख्यदर्शन का संकेत ग्रहण करते हुये कहते हैं कि 'प्रवृत्ति' आदि से सत्त्वादि गुणों का आविर्भावादि रूप ग्रहण किया जाय—

'सत्त्वादीनामाविर्भावादिरूपः प्रवृत्तिशब्दवाच्यो नित्य परिणाम इत्यर्थः।'

---

१. वही 'उद्योत'
२. महाभाष्य ४.१.१.३ सूत्र 'प्रदीप'
३. वही ४.१.१.३ सूत्र
४. व्याकरणदर्शन भूमिका, २.२५५.

"प्रवृत्तिरिति सामांन्यं लक्षणं तस्य कथ्यते।
आविर्भावरिस्तरोभावः स्थितिश्चेत्यथा भिद्यते।"[१]

नागेशभट्ट का मत है कि निरन्तर परिवर्तित होने वाले गुणों की परिणामावस्था प्रवृत्ति है—

'अजस्रपरिणामिनां गुणानां परिणामविशेषानादरेण प्रवृत्तिः-परिणाम इति सामान्यलक्षणमित्यर्थः।'[२]

गुण सदा परिणामी हैं तथा आवृत्ति व प्रवृत्ति से प्रभावित रहते हैं। पदार्थ का धर्म परिवर्त्तनशील होना है, कोई भी पदार्थ क्षण भर भी स्थिर नहीं रहता। प्रवृत्ति तथा निवृत्ति के सर्वत्र उपलब्ध होने पर यह समस्या होती है कि लिङ्ग-निर्धारण किस आधार पर किया जाय, उसके लिये महाभाष्यकार समाधान देते हैं कि यह व्यवस्था विवक्षा के आधार पर निश्चित की जाय। अर्थात् जहाँ आधान की विवक्षा हो, वहां स्त्रीलिङ्ग-बोध होगा तथा जहां प्रसव की विवक्षा हो, वहां पुमान् होगा तथा जहां दोनों की ही विवक्षा हो, वहां नपुंसकलिङ्ग का ग्रहण होगा—

'विवक्षातः, संस्त्यानविवक्षायां स्त्री, प्रसवविवक्षायां पुमान्, उभयविवक्षायांनपुंसकम्।"[३] कैयट ने विवक्षा को लोकव्यवहारानुवादिनी विवक्षा माना है, जो सामान्य लोक प्रयोग से भिन्न होती है—

'लोकव्यवहारानुवादिनी विवक्षाऽश्रीयते न तु प्रायोक्त्री।"[४]

तात्पर्य यह है कि तीनों लिङ्गों का ग्रहण होने पर किसी विशेष शब्द से किसी विशेष लिङ्ग का बोध-निर्णय शिष्ट व्यवहार के द्वारा होता है। 'उभयविवक्षा' को परवर्त्ती वैयाकरणों ने 'स्थिति' माना है, वाक्यपदीयकार का मन्तव्य है—

'आविर्भावस्तिरोभावः स्थितिश्चेत्यनपायिनः,
धर्मा मूर्त्तिषु सर्वासु लिङ्गत्वेनानुदर्शिताः।'[५]

---

१. महाभाष्य ४.१.१.३ सूत्र 'प्रदीप'
२. वही 'उद्योत'
३. महाभाष्य ४.१.१.३ सूत्र
४. वही 'प्रदीप'
५. वाक्यपदीय ३.१३.१३.

महाभाष्यकार शंका करते हैं कि लिङ्ग-निर्धारण विवक्षा के आधार पर निश्चित करने पर वध्रिकादि में लिङ्ग-का परिहार होगा—अर्थात् जो लिङ्ग-बोध बाह्य रूप से हो रहा है, वह नहीं माना जाएगा—

'गुणो वालुपि युक्तवत्।"[१]

महाभाष्यकार अपने मन्तव्य को स्पष्ट करने के लिये अष्टाध्यायी का एक सूत्र उद्धृत करते हैं—'लुपि युक्तवत् व्यक्तिवचने'-अर्थात् प्रत्यय का लोप हो जाने पर भी विशेष्य के लिङ्ग व वचन के अनुसार ही विशेषण का लिङ्ग व वचन होगा। महाभाष्यकार का अभिप्राय है कि प्रस्तुत सूत्र के आधार पर तो वध्रिकादि में पुल्लिङ्ग होना चाहिये था।

ऐसी स्थिति में लिङ्ग-निर्धारण में लोक ही प्रमाण होगा, अथवा एक ही अर्थ में शब्द के भिन्न होने से लिङ्ग-स्वरूप भिन्न दृष्टिगत होगा अथवा शब्द में किसी अवयव के भिन्न हो जाने पर लिङ्ग-स्वरूप भिन्न होगा—

'लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्येति।
----एकार्थे शब्दान्यत्वात् दृष्टं लिङ्गान्यत्वम् अवयवान्यत्वाच्च इति।'[२]

लोक में एक ही वस्तु के लिये भिन्न-भिन्न शब्दों का प्रयोग होता है तथा लिङ्ग भी भिन्न-भिन्न दृष्टिगत होते हैं, यथा-पुस्य, नक्षत्र, तारकादि शब्दों का व्यवहार एक ही वस्तु के लिये होता है। पण्डित रामाज्ञा पाण्डेय का मत है[३]— कुछ आचार्य लिङ्ग को शब्दनिष्ठ भी मानते हैं। यहां एक ही अर्थ को बोध कराने वाले बुद्धिः, प्रत्ययः तथा ज्ञानम्—तीनों लिङ्गों से संयुक्त हैं, बुद्धिः स्त्रीवाची है, प्रत्ययः पुंवाची तथा ज्ञानम् नपुंसक लिङ्ग से युक्त है। गुण में स्त्रीलिङ्ग का निर्धारण होने पर स्त्रीत्व का ग्रहण होता है, पुनः टाबादि प्रत्ययों के लगने से द्रव्यवाची स्त्री शब्द का ग्रहण होता है। स्त्रीत्व के समानाधिकरण तद्वाची प्रातिपदिक से भी टाबादि प्रत्यय ग्रहण होंगे—स्त्रीत्व ग्रहण से—

'स्त्रियामभिधेयायां टाबादया भवन्तीति।
आहोस्वित् स्त्रीसमानाधिकरणात्प्रातिपदिकादिति।'[४]

---

१. महाभाष्य ४.१.१.३ सूत्र
२. वही
३. व्याकरणदर्शनभूमिका, पृ० २५७
४. महाभाष्य ४.१.१.३ सूत्र

स्त्री शब्द में टाबादि की उपपत्ति पूर्वपक्ष के आचार्य स्वीकार नहीं करते हैं, ऐसा महाभाष्यकार के विवरण से ज्ञात होता है। उनके मत में यदि स्त्रीवाची स्त्री शब्द में टाबादि प्रत्यय का प्रयोग किया जाय, तो उस शब्द में द्विवचन, बहुवचनादि की उपपत्ति सम्भव नहीं होगी, यथा-कुमार्यौ, कुमार्यः तथा किशौर्यौ, किशोर्यः जैसे प्रयोग सम्भव नहीं होंगे, क्योंकि स्त्रीत्व एक है और उस एक स्त्रीत्व का एकवचन ही होता है, द्विवचनादि नहीं—

'स्त्रियामिति स्त्र्यर्थाभिधाने चेट्टाबादयो द्विवचनबहुवचनानेक प्रत्ययानुपपत्तिः। एकत्वात् स्त्रीत्वस्य, एकोऽयमर्थः स्त्रीत्वं नाम। तस्यैकत्वादेकवचनमेव प्राप्नोति।'[१]

एक अन्य शङ्का है कि स्त्री वाची स्त्री शब्द में अनेक प्रत्ययों का निश्चय नहीं किया जा सकता—

'अनेकप्रत्ययानुपपत्तिश्च।'[२]अभिप्राय यह है कि स्त्रीत्व के एक होने के कारण उसमें एक प्रत्यय का प्रयोग होने के पश्चात् दूसरे प्रत्यय का प्रयोग नहीं किया जा सकता, क्योंकि उस स्त्री शब्द में एक प्रत्यय स्त्रीबोधक है।उपर्युक्त नियम के आधार पर यहां एक बार ष्फ प्रत्यय का प्रयोग होने के पश्चात् ङीष् प्रत्यय का प्रयोग नहीं हो सकता।

'गर्गस्यापत्यं गोत्रं स्त्री, गर्गादिभ्यो यञ्। तदन्तात्प्राचां ष्फ तद्धित इति ष्फ। तदन्तात् ङीष्। करीषगन्धेरपत्यं स्त्रीत्यण्। तस्याणि ओरिति षयङ्। ततो यङश्चाबिदि चाप्। कालशब्दाज्जानपदादिसूत्रेण ङीष्। ततस्तरप्। ततष्टाबप्राप्नोति। ङीषा स्त्रीत्वस्योक्तत्वात्।'[३]

अर्थात् पूर्ण व्युत्पत्ति के आधार पर स्त्रीवाची शब्द में एक बार ङीष् प्रत्यय (स्त्रीबोधक) का प्रयोग होने पर टाप् प्रत्यय का प्रयोग नहीं हो सकता।

कैयट तथा नागेश-दोनों टीकाकार स्त्रीवाची शब्दों से दोनों पक्षों का ग्रहण करते हैं, अर्थात् स्त्रीत्व से युक्त शब्द तथा स्त्रीसमानाधिकरण शब्द—

---

१. महाभाष्य ४.१.१३ सूत्र
२. वही 'प्रदीप'
३. वही 'प्रदीप'

'पक्षद्वयेऽपि द्योतकः प्रत्यय' 'समानाधिकरणपक्षे, प्रकृत्यर्थविशेषणपक्षे चेत्यर्थ।'[१]

स्वयं स्त्रीत्व के एक होने के कारण, 'स्त्र' शब्द में, स्त्रीवाची शब्द के होने के कारण ईकार नहीं हो सकता, यह एक अन्य शङ्का भी सामने आती है—

'स्त्र्यर्थस्य च प्रातिदिकार्थत्वात् स्त्रियामिति लिङ्गानुपपत्तिः, ईकारो न प्राप्नोति।'[२]

कैयट ने स्पष्ट किया है कि एक बार संस्त्यानवाची ड्रट् प्रत्यय का प्रयोग हो जाने पर 'स्त्र' शब्द से स्त्रीत्व का अभिधान होने से, तदनन्तर उसमें ङीप् प्रत्यय नहीं सकता।[३]

स्त्री शब्द से स्त्री समानाधिकरणवाची पद का ग्रहण करने पर आपत्ति है कि तत्सम्बन्धी भूतादि शब्दों में स्त्रीत्व का ग्रहण करना होगा, यथा—

'भूतमियं ब्राह्मणी, कारणमियं ब्राह्मणी, आवपनमियमुष्ट्रिकेति।'

इन प्रयोगों में भूतादि में भी स्त्रीवाची प्रत्ययों का निर्धारण होगा, और भूतादि पदों के स्त्रीवाची मानने पर अति प्रसंग हो जावेगा।[४]

टीकाकार नागेश का कथन है कि इस प्रकार आपवन आदि में स्त्रीत्व मानने के लिये ङीप् प्रत्यय होगा तथा भूतत्व के जातित्व होने के कारण, स्त्रीत्व मानने पर वहां भी ङीप् प्रत्यय करेंगे—

'आवपनादौ ङीपः भूतत्वस्यजातित्वे तत्रापि ङीषः प्रसंगाच्च।'[५]

शङ्का का समाधान यह है कि प्रकृत्यर्थविशेषणपक्ष में स्त्रीत्व से युक्त प्रातिपदिक में टाबादि लगाने से, स्त्रीत्व का ग्रहण करने पर यह समस्या स्वतः निराकृत हो जाती है, क्योंकि तब 'भूतमियं ब्राह्मणी, कारणमियं ब्राह्मणी, आवपनमियमुष्ट्रिका" आदि में स्त्रीत्व परिलक्षित नहीं होता, अपितु पिशाचता,

---

१. महाभाष्य ४.१.१३ 'प्रदीप', 'उद्योत'
२. महाभाष्य ४.१.१.३ सूत्र
३. वही 'प्रदीप'
४. वही ४.१.१.३ सूत्र
५. महाभाष्य ४.१.१.३ सूत्र 'उद्योत'

प्राधान्य तथा संभवन क्रमशः दृष्टिगत होते हैं (स्त्रीत्व संकेतित नहीं होता)। अतः इन पदों में स्त्रीत्ववाची प्रत्यय टाबादि का प्रयोग नहीं हो सकता।[१]

कैयट का एक अन्य अभिप्रायं है कि पौतन्यवाची भूतशब्द नित्यनपुंसकवाची है। अतः स्त्रीवाची प्रत्यय की उपपत्ति नहीं होगी—

'पौतन्यम्-पूतनात्वम्, पिशाचता तद्वाचिभूतशब्दो नित्यनपुंसकः।'[२]

समानाधिकरण मानने पर एक अन्य आपत्ति होती है, वह है कि षट्संज्ञक पदों से स्त्री प्रत्यय के प्रसंग में निषेध हो रहा है— "षट्संज्ञकेभ्यश्च प्रतिषेधः" [३]

अष्टाध्यायी का सूत्र है—

'न षट्स्वस्रादिभ्यः'[४]

अभिप्राय यह है कि समानाधिकरण मानने पर पञ्च ब्राह्मण्यः षट् ब्राह्मण्यः आदि उदाहरणों में स्त्रीवाची ब्राह्मणी पद के संयोग से सामानाधिकरण्य में पञ्च आदि में स्त्रीत्व मानना चाहिये, किन्तु ऐसा होता नहीं है। इस शङ्का का समाधान है कि स्त्र्यर्थाभिधान में टाबादिग्रहण होने पर षट् आदि में स्त्रीत्व का ग्रहण नहीं होगा क्योंकि षट् आदि से संख्या का ग्रहण हो रहा है, स्त्रीत्व का नहीं—

'स्त्र्यर्थाभिधाने पुनष्टाबादिषु सत्सु नात्र स्त्रीत्वं विवक्षितम्। भेदो विवक्षितः संख्या।'[५]

समानाधिकरणपक्ष मानने पर एक अन्य बृहद् दोष आता है कि 'स्त्री' शब्द में ईकार ही नहीं हो सकता, क्योंकि 'स्त्री' शब्द से स्त्री शब्द का ही समानाधिकरण नहीं होता, महाभाष्यकार उद्धृत करते हैं—

:इह च स्त्री ईकारो न प्राप्नोति, न हि तेनैव तस्य सामानाधिकरण्यमस्ति।' [६]

१. महाभाष्य ४.१.१.३ सूत्र
२. वही 'प्रदीप'
३. महाभाष्य ४.१.१.३ सूत्र
४. अष्टाध्यायी ४.१.१०
५. महाभाष्य ४.१.१.३ सूत्र
६. वही

कैयट इस प्रकार स्पष्ट करते हैं कि स्त्री शब्द के सामानाधिकरण्य से ब्राह्मणी आदि पदों में स्त्री प्रत्यय हो जाता है किन्तु 'स्त्री' शब्द में तत् समानाधिकरण का अभाव होने से तथा ब्राह्मणी आदि पदों की भी अपेक्षा न होने से स्त्री प्रत्यय नहीं हो सकता—

'स्त्रीशब्दसामानाधिकरण्याद् ब्राह्मण्यादिषु स्त्रीप्रत्ययः सिध्यति। स्त्रीशब्दे तु पदान्तरप्रयोगाभावात् ब्राह्मण्यादिपदापेक्षाभावाच्च प्रत्ययो न प्राप्नोतीत्यर्थः।'[१]

तात्पर्य यह है कि 'स्त्री' शब्द से डीप् प्रत्यय लगने पर तत्सामानाधिकरण्य से स्त्रीत्व में ब्राह्मणी आदि में स्त्री प्रत्यय हो जाता है, किन्तु 'स्त्र' शब्द में 'स्त्रीत्व' का सामानाधिकरण्य नहीं हो सकता। सिद्धान्त रूप में 'स्त्री' शब्द का स्त्रीत्व तो प्रातिपदिक का विशेषण होने से सिद्ध हो जाता है और उसके विशेषणत्व से स्वार्थ में स्त्रीवाची यणादि प्रत्ययों का प्रयोग हो जाता है, वार्तिक इस प्रकार है—सिद्धं तु स्त्रियः प्रातिपदिकविशेषणत्वात् स्वार्थे यणादयः।[२]

'अभिप्राय यह है कि स्त्री' शब्द में स्त्रीत्व ग्रहण न तो प्रकृत्यर्थ-विशेषण-ग्रहण के द्वारा हो रहा है और न ही सामानाधिकरण्य के द्वारा हो रहा है। अतः स्त्री-ग्रहण के लिये यह सामान्य सिद्धान्त निरूपित किया जा सकता है कि स्त्रीत्व से युक्त स्त्रीवाची अर्थ में जो प्रातिपदिक प्रयुक्त हुआ है, उससे स्वार्थ में टाबादि प्रत्यय संलग्न होंगे।[३]

महाभाष्यकार की मान्यता है कि गुणवचनों के आश्रयीभूत जो द्रव्य हैं, उनके आधार पर लिङ्ग व वचन निश्चित होता है, यथा-शुक्लं वस्त्रम्, शुक्ला शाटी आदि दृष्टान्तों में स्त्रीत्वादि गुण जिस-जिस वस्त्रादि द्रव्य के आश्रित हैं, उसी द्रव्य के आधार पर उस स्त्रीत्वादि गुण का लिङ्ग व वचन निर्धारित होता है—'यदसौ द्रव्यं श्रितो भवति गुणस्तस्य यल्लिङ्गं वचनं च तद् गुणस्यापि भवति। एवमिहापि (यदसौ) द्रव्यं श्रितं भवति स्त्रीत्वं गुणः, तस्य यल्लिङ्गं वचनं च तत् स्त्रीत्वस्यापि भविष्यति।'[४]

---

१. महाभाष्य ४.१.१.३ 'प्रदीप'
२. महाभाष्य १.१.३.
३. वही
४. महाभाष्य ४.१.१.३ सूत्र

स्त्रीवाची शब्द में अनेक प्रत्ययों की उपपत्ति भी सम्भव है, क्योंकि भाव का भाव के साथ योग स्वाभाविक है—'भावस्य च भावयुक्तत्वात्।'[१]

अतः स्त्रीत्व का स्त्रीत्व के साथ योग स्वाभाविक है, किन्तु यह मान्यता असिद्ध हो जाती है क्योंकि 'इषि' भाव का 'एषितुमिच्छति' तथा 'निमन्त्रि' भाव का निमन्त्रणार्थक भाव में योग होने पर दोनों में साधन व कालभेद है। एक भाव बाह्य है—किसी कार्य को करने की इच्छा के रूप में और उसमें प्रयुक्त तुमुन् प्रत्यय कालमात्र में प्रयुक्त हुआ है, जबकि दूसरा भाव 'इषि'- इच्छा अर्थ में, कर्म होने से आभ्यन्तर है और उसमें प्रयुक्त प्रत्यय वर्तमान काल है, अतः दोनों कालों में भेद है। अभिप्राय यह है कि स्त्रीत्व एक ही है—दो भाव नहीं, अतः स्त्रीत्व का स्त्रीत्व के साथ योग असम्भव है। परिणामतः ष्फ तथा ङीषादि प्रत्ययों की उपपत्ति स्त्रीत्व में सम्भव नहीं। किन्तु महाभाष्यकार का इस सम्बन्ध में कथन है कि एक स्त्रीत्व होते हुये भी उसका ग्रहण होता है और जब एक स्त्रीत्व का ग्रहण हो रहा है तो द्वितीय स्त्रीत्व का भी ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि खट्वादि में स्त्री आदि लिङ्ग न होते हुये भी मृगतृष्णा के समान उसका ग्रहण बताया गया है—

> 'यद्येकमुपलभ्यते द्वितीयमप्युपलभ्यताम्। खट्वादिष्वसदपि मृगतृष्णावद्यद्युपलभ्यते लिङ्गम् अविचारितरमणीयेन च तेन प्रसिद्धो व्यवहारः।'[२]

महाभाष्यकार के प्रस्तुत व्याख्यान में कैयट पुनः सांख्यदर्शन का संकेत ग्रहण करते हैं कि जगत् के समस्त पदार्थ सुखदुः-खमोहात्मक है तथा गुणों की प्रवृत्ति लिङ्ग है। अतः प्रवृत्ति के भी गुणपरिणामी होने से, अर्थात् प्रवृत्ति की भी प्रवृत्ति होने से लिङ्ग ग्रहण होना चाहिये—'सुखदुःखमोहान्वयात्सर्वव्यक्तीनां तत्परिणाम एवेदं विश्वम्, गुणानाञ्च प्रवृत्तिर्लिङ्गम्। तत्र प्रवृत्तेरपि प्रवृत्तिसद्भावाल्लिङ्गयोगोऽस्त्वितीत्यर्थः।'[३]

महाभाष्यकार का लिङ्ग व गुणों का अन्योन्याश्रय भाव सांख्यदर्शन से पूर्णतया साम्य रखता है। उन्होंने स्त्रीत्वादि गुण द्रव्य का माना है तथा रूपादि गुणसमुदाय ही द्रव्य है—

---

१. महाभाष्य ४.१.१.३ सूत्र
२. वही
३. वही 'प्रदीप'

'यदि तावद् गुणसमुदायो द्रव्यम्।'[1]

एक अन्य स्थल पर महाभाष्यकार ने लिङ्ग को सत्व का गुण माना है—

'स्त्रीपुंनपुंसकानि सत्वगुणाः'।[2]

'गुणवचनानां शब्दानामाश्रयतो लिङ्गवचनानि भवन्ति।'[3]

चिकीर्षा, गोता आदि के स्त्रीत्व के सन्दर्भ में आक्षेप यह आता है कि चिकीर्षा, गोता तो भाव हैं, गुण नहीं, फिर इनमें स्त्रीत्व मानकर टाबादि की उपपत्ति नहीं होनी चाहिये (क्योंकि गुणसमुच्चय ही द्रव्य माने गये हैं, अतः भाव तो द्रव्य नहीं होंगे)।[4]

आक्षेप का समाधान महाभाष्यकार देते हैं कि कृत् प्रत्यय से युक्त भाव भी द्रव्यवत् होता है, अतः जिस प्रकार चिकीर्षादि में स्त्रीत्व माना गया है, उसी प्रकार स्त्रीत्व भी स्त्रीत्वगुणवैशिष्ट्य से युक्त द्रव्य के समान व्यवहृत होता है—'अथ मतमेतत् कृदभिहितो भावो द्रव्यंचेद्भवति' इति स्त्रीत्वमपि स्त्रीत्वेनाभिहितं द्रव्यवद्भविष्यति।'[5]

तात्पर्य यह है कि स्त्रीत्व का स्त्रीत्व के साथ योग उपपन्न है।

महभाष्यकार ने सर्वदा ही सर्वसम्भव शङ्काओं का अनुमान लगाकर उनका समाधान विद्वत्तापूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया है। स्त्रीत्व, को एक मानने पर भी 'गार्ग्यायणी' आदि में अनेक प्रत्ययों का ग्रहण हो जाता है, यथा—गार्ग्यायणी में षित्सामर्थ्य से ङीष् प्रत्यय हुआ है। कारीषगन्ध्या में यङ् प्रत्यय के कारण आप् प्रत्यय होगा।[6] कालितरा' की व्युत्पत्ति के सन्दर्भ में उनका कथन है कि 'कालितरा' से यावत्काली तावत् कालितरा' यह अभिप्रेत नहीं लेंगे, अपितु अवस्था में प्रकृष्ट काली कालितरा अर्थ

---

१. महाभाष्य ४.१.१३ सूत्र
२. वही १.१.६.३८ सूत्र
३. महाभाष्य १.२.२.५२ सूत्र
४. वही ४.१.१.३ सूत्र
५. वही
६. षिद्गौरादिभ्यश्च-अष्टाध्यायी ४.१.४१ यङश्चापः --- वही ४.२.७४

ग्रहण करेंगे। उस शब्दरूप के प्रकर्ष अवस्था में स्थित होने पर, स्त्रीत्व के अनुक्त होने पर टाप् प्रत्यय होगा।[१]

खट्वा, माला के स्त्रीत्व के सन्दर्भ में यह आशंका हो सकती है कि खट्वा, माला नित्य स्त्री लिङ्ग हैं, इनमें अकारान्त, कभी दृष्टिगत नहीं होता, तथा 'अतिखट्वा', 'अतिमाला', रूप टाप् को ह्रस्व करके व्युत्पन्न हुये हैं, अतः ये पद भी अकारान्त नहीं है—

'स्त्रीविषये ङ्यापोरप्रसिद्धिरकारान्तादर्शनात्।'[२]

कैयट का कथन है कि कुक्कुटादि पदों में अनेक लिङ्ग होने से अकारान्तत्व हो जाता है।[३]

उपर्युक्त शंका का समाधान महाभाष्यकार देते हैं कि शाकटायन- दर्शन के अनुसार सभी शब्दों की अकारान्तता व्युत्पत्ति के आधार पर पहले से ही निर्धारित की गयी है, फिर उस आधार पर खट्वा—वृक्ष की भी अकारान्तता सिद्ध हो जाती है, कैयट स्पष्ट करते हैं—

'शाकटायनदर्शनेन सर्वशब्दानां व्युत्पाद्यत्वाच्छास्त्रद्वारेण अकारान्तता निश्चीयत इत्यर्थः।'[४]

'पञ्च खट्वः', 'दश खट्वः आदि पदों में भी व्युत्पत्ति के आधार पर अकारान्तता दृष्टिगत हो रही है। कैयट व्युत्पत्ति प्रस्तुत करते हैं—

'तद्धितार्थे द्विगुः। आर्हादिति ठक्। तस्माद्ध्यर्थपूर्वेति लुक्। लुक्तद्धित लुकीति स्त्रीप्रत्ययस्य लुकि कृते प्रयोग एकाकारान्तता दृश्यत एवेत्यर्थः।'[५]

स्त्रीलिङ्ग ग्रहण का एक अन्य सार्वलौकिक उपाय है कि स्त्रीलिङ्गग्रहण डीप् आदि प्रत्ययों से युक्त शब्द से हो जाता है—'सिद्धा तु स्त्रियाः पुंशब्देनाभिधानात् यदयं पुंयोगादाख्यायामिति ईकारं शास्ति।'[६]

---

१. महाभाष्य ४.१.१.३
२. वही
३. वही, प्रदीप
४. महाभाष्य ४.१.१.३ सूत्र 'प्रदीप'
५. वही ४.१.१.३ सूत्र
६. वही ४.१.२.४८ सूत्र

तात्पर्य यह है कि स्त्री के कतिपय लक्षण पुंस में तथा पुमान् के कतिपय लक्षण सामान्यतः स्त्री में उपलब्ध होते हैं, अर्थात् स्त्री व पुमान् का परस्पर अध्यास, अध्यारोप के आधार पर सम्बन्ध होता है—

'तस्येदमित्यन्येनाभिसम्बन्धेन।'[१]

महाभाष्यकार ने स्त्री व पुमान् के परस्पर साधर्म्य के चार आधार गिनाये हैं—तात्स्थ्य, ताद्धर्म्य, तत्सामीप्य तथा तत्साहचर्य—इनके आधार पर जो धर्म नहीं है, उसका भी आरोप हो जाता है—

'चतुर्भिः प्रकारैरतस्मिन् 'सः' इत्येतद् भवति।'[२]

अतः उपर्युक्त आधार पर स्त्रीत्व में पुंस्त्व तथा पुंस्त्व में स्त्रीत्व का अध्यारोप हो जाता है। डॉ० रामसुरेश त्रिपाठी के शब्दों में—'इस तरह उपचय-अपचय के आधार पर लिङ्ग-दर्शन सर्वपदार्थव्यापी है।'[३]

महाभाष्यकार ने लोक में नपुंसकत्व का ही प्राधान्य माना है। उनके अनुसार कार्य-सम्प्रत्यय सामान्यतः नपुंसकलिङ्ग में ही होता है—

'प्रधाने कार्यसम्प्रत्ययाच्छेषः।
किं च प्रधानम्? नपुंसकम्।
एवं हि दृश्यते लोके अनिर्ज्ञातेऽर्थे, गुणसंदेहे च नपुंसकलिङ्गं प्रयुज्यते।'[४]

तात्पर्य यह है कि जहां अर्थ ग्रहण ज्ञात नहीं हो रहा है अथवा द्रव्य के गुण में सन्देह है, वहां नपुंसक लिङ्ग ही दृष्टिगोचर होता है। अर्थात् नपुंसकलिङ्ग न केवल स्त्रीत्व व पुंस्त्व से भिन्न है, अपितु जहां सामान्य रूप से स्त्रीत्वादि से अर्थग्रहण न हो, स्त्रीत्वादि गुण का सन्देह हो, वहां नपुंसकलिङ्ग होता है। लिङ्ग निर्धारण तो सामान्यतः लोकव्यवहार तथा शिष्ट-प्रयोग के द्वारा ही होता है तथापि कुछ शब्द आविष्ट-लिङ्ग होते हैं,

१. महाभाष्य ४.१.१३ सूत्र
२. वही ४.१.२.४८ सूत्र
३. संस्कृत व्याकरण दर्शन, पृ० ३१०.
४. महाभाष्य १.२.३.६९ सूत्र

तथा इनकी जाति उत्पत्ति से विनाश पर्यन्त अपने लिङ्ग से पृथक् नहीं होती—

'आविष्टलिङ्गा जातिर्यल्लिङ्गमुपादाय प्रवर्तते,
उत्पत्तिप्रभृत्या विनाशान्न तद्लिङ्गं जहाति।'[१]

महाभाष्यकार ने लिङ्ग-ग्रहण आचार्य पाणिनि के समान अर्थगत माना है तथा अर्थगत होने पर स्त्री व पुंस का ही ग्रहण होगा, नपुंसकलिङ्ग का नहीं, अतः महाभाष्यकार ने अपना अभिमत दिया कि नपुंसकवाची शब्द नहीं होते— 'न हि नपुंसकं नाम शब्दोऽस्ति।'[२]

कैयट तथा नागेश दोनों टीकाकार अर्थगत भाव का ही ग्रहण मानते हैं।[३]

युष्मद्-अस्मद् के लिङ्ग निर्धारण के सन्दर्भ में महाभाष्यकार अनिश्चय प्रकट करते हैं—'अलिङ्गे युष्मदस्मदी।' न ह्यस्ति विशेषो युष्मदस्मदोः स्त्रियां पुंसि नपुंसके वा।'[४] अर्थात् युष्मद्-अस्मद् को स्त्री, पुमान् तथा नपुंसक तीनों लिङ्गों में से किसी भी लिङ्ग के साथ विशेष रूप से अभिहित नहीं किया गया है। कैयट का वचन है कि अभिधेय सर्वनाम के अलिङ्ग होने के कारण इनका लिङ्ग निर्धारण नहीं हो सकता,[५] अतः इनका लिङ्ग-निर्धारण शब्दशक्ति के आधार पर होता है।

बहुव्रीहि समास में लिङ्ग व संख्या के निर्धारण के सम्बन्ध में शंका रहती है कि लिङ्गयोग सत्त्वभूत द्रव्य से होता है तथा विभक्त्यर्थ असत्त्वभूत से सम्बद्ध होता है। अतः विभक्ति का ग्रहण होने पर लिङ्ग-ग्रहण नहीं हो सकता—"विभक्त्यर्थाभिधानेद्रव्यस्य लिङ्गसंख्योपचारानुपपत्तिः।'[६]

---

१. महाभाष्य १.२.२.५२ सूत्र
२. महाभाष्य ७.१.१.२३ सूत्र
३. वही 'प्रदीप'
'अर्थधर्मत्वाल्लिङ्गस्य।'
'अर्थधर्मस्य स्त्रीत्वस्थशब्दे आशयः।'
४. वही ७.१.१.३३ सूत्र
५. वही
६. महाभाष्य २.२.२.२४ सूत्र, 'प्रदीप'
'असत्त्वभूतस्य विभक्त्यर्थस्य लिङ्गसंख्याभ्यां व्यवहारो नोपपद्यत इत्यर्थः।"

शंङ्का का सामाधान महाभाष्यकार प्रस्तुत करते हैं कि जिस प्रकार गुणवचनात्मक शब्दों के आधार पर लिङ्ग-निर्धारण हो जाता है, यथा-'शुक्लं' वस्त्रम् 'शुक्ला शाटी' आदि उसी प्रकार जिस द्रव्य के आश्रयीभूत यह विभक्त्यर्थ है, उस द्रव्य का जो लिङ्ग है, वही लिङ्ग उस द्रव्य के समास का होगा।[१]

'अनेकमन्यपदार्थे' सूत्र में प्रयुक्त अर्थ शब्द के ग्रहण की सामथ्र्य से समास में विभक्ति के अतिरिक्त कृत्स्न पदार्थ—अर्थात् समस्त द्रव्य, लिङ्ग व संख्या से युक्त पदार्थों का ग्रहण माना जाएगा—

'यदर्थग्रहणं करोति तस्यैतत्प्रयोजनं कृत्स्नः पदार्थो यथाभिधीयते सद्रव्यः सलिङ्गः ससंख्यश्चेति।'[२] कृत्स्न पदार्थ से लिङ्गादि-सबका ग्रहण मानने पर एक समस्या आ सकती है कि तब समास में लिङ्ग विधि वाले प्रत्ययों का ग्रहण नहीं हो सकता—

'यदि तर्हि कृत्स्नः पदार्थोऽभिधीयते-
लैङ्ग सांख्याश्च विधयो न सिध्यन्ति।'[३]

शंका का समाधान महाभाष्यकार देते हैं कि कृत्स्न पदार्थ से लिङ्गानि का ग्रहण होने पर भी समास में लिङ्गग्रहण के लिये स्वार्थ में टाबादि प्रत्यय की उपपत्ति हो ही जाएगी।[४] नञ् समास के सन्दर्भ में महाभाष्यकार ने लिङ्ग-योग का विवेचन किया है कि नञ् समास में जिस द्रव्य के आश्रित समास होगा, समास में भी उसी का लिङ्ग होगा—

'अन्यपदार्थप्रधानस्तर्हि भविष्यति।'[५]

प्रस्तुत नियम के सन्दर्भ में आपत्ति यह है कि ऐसी स्थिति में 'अवर्षा हेमन्तः' समास में हेमन्त का जो लिङ्ग व वचन होगा वही उस समास का मानना होगा।[६] और यदि पूर्वपदार्थप्रधान मानें तो पूर्व में अव्यय है जो अलिङ्ग व असंख्य है—

१. महाभाष्य २.२.२४ सूत्र
२. वही
३. महाभाष्य २.२.२४ सूत्र
४. वही
५. वही २.२.६ सूत्र
६. वही

'अव्ययं ह्यस्य पूर्वपदमिति।'[१]

उसके लिये समाधान यह है कि नञ् समास के ग्रहण के पश्चात् जहां लिङ्ग-ग्रहण हो रहा हो, वहां लिङ्ग-निर्धारण कर लेना चाहिये तथा जहां नहीं हो रहा है, वहां नहीं करना चाहिये अथवा पुनः, जिस प्रकार गुण जिस द्रव्य के आश्रित होता है, उसी द्रव्य के लिङ्ग का ग्रहण करता है उसी प्रकार यह समास जिस द्रव्य के आश्रित होता है उस द्रव्य का जो लिङ्ग वचन है वही लिङ्ग व वचन उस समास का होगा।[२]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि महाभाष्यकार ने लिङ्ग विषय पर न केवल व्याकरण-दृष्टि से गहन अध्ययन किया है, अपितु जगत् के समस्त सजीव प्राणियों तथा निर्जीव पदार्थों में लिङ्ग की व्यापकता को दृष्टिगत रखते हुये उसके भिन्न स्वरूप को भी प्रकाशित किया है। लिङ्ग की उत्पत्ति द्रव्य से तथा द्रव्य का गुण से सम्बन्ध स्पष्ट करते हुये वे सांख्यादि दर्शनों से न केवल भली-भांति परिचित हैं, अपितु प्रभावित भी हैं जोकि स्थान-स्थान पर प्राप्त उद्धरणों से स्पष्ट होता है।

पुल्लिङ्ग-स्त्रीलिङ्ग व नपुंसकलिङ्ग परस्पर इस प्रकार सम्पृक्त हैं कि कहीं-कहीं एक लिङ्ग के निर्णय में दूसरे लिङ्ग का प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है तथा किसी-किसी स्थान पर ही द्रव्य के लिये तीनों लिङ्गों का प्रयोग लोक में देखने में आता है—यह निर्णय शास्त्र द्वारा, लोक व्यवहार द्वारा निर्धारित किया जाता है। इससे स्पष्ट होता है कि पतञ्जलि को लौकिक व्यवहार-ज्ञान भी कम नहीं था। निष्कर्षतः कह सकते हैं कि आचार्य पाणिनि द्वारा विवेचित लिङ्ग-तत्त्व को महाभाष्यकार ने व्याकरण-दृष्टि के अतिरिक्त दार्शनिक दृष्टि से भी पर्याप्त महत्त्व दिया है।

वैदिक परम्परा में लिङ्ग-तत्त्व

यदि लिङ्ग तत्त्व पर वैदिक ग्रन्थों में पृथक् रूप से विवरण उपलब्ध नहीं होता, तो इसका अर्थ यह कदापि नहीं लिया जा सकता कि वैदिक

१. महाभाष्य २.२.२६ सूत्र 'अलिङ्गमसंख्यमव्ययमित्यर्थाश्रयेणाव्ययसंज्ञाविधानादिति भावः।'

२. वही

ऋषियों को लिङ्ग-ज्ञान नहीं था, अपितु उन्हें लिङ्ग-विभाजन भली-भांति ज्ञात था। पुल्लिङ्ग से विवेचित 'पुरुष' व्यक्ति 'स्त्री' की अपेक्षा शक्तिमान होता है, इसी कारण प्रकृति-देवताओं को पुल्लिङ्ग में उच्चारित किया गया है—इन्द्रो, सूर्यः, वरुण, आदि। अथर्ववेद में उपलब्ध उद्धरण में पुल्लिङ्ग का उल्लेख किया गया है—

'पुमान् पुंसोऽधितिष्ठ चर्मेहि।'[१]

पुरुष पुल्लिङ्ग में अधिष्ठित हो धर्म के साथ।

प्रस्तुत उद्धरण में 'पुमान्' शब्द से पुरुष व्यक्ति अर्थ-ग्रहण हो रहा है, वहां दूसरी ओर पुंस पद से लिङ्गवाची 'पुरुष' अर्थ गृहीत हो रहा है। स्पष्ट है कि व्याकरण की दृष्टि से विवेचित लिङ्ग का लक्षण हमें वेद में ही उपलब्ध हो जाता है। ऐतरेय ब्राह्मण में 'सुब्रह्मण्या'-वाक् का विवरण दिया गया है, वहां शंका की गयी है कि वाक् सर्वशक्तिमान् होने के कारण पुल्लिङ्ग है, किन्तु इसको स्त्रीलिङ्ग से विवेचित क्यों किया गया है—'सुब्रह्मण्या'। 'तदाहुः किं सुब्रह्मण्यायै सुब्रह्मण्यात्वमिति। वागेवेति श्रूयात्—वाग् वै ब्रह्म च सुब्रह्म चेति तदाहुः-अथ कस्मादेनं पुमांसं सन्तं स्त्रीभिवाचक्षत इति ?'[२]

पुल्लिङ्ग के लिये 'वृषन्' तथा स्त्री के लिये 'योषा' शब्द का प्रयोग मिलता है—

'वृषा वा ऋषभो योषा सुब्रह्मण्या।'[३]
'वृषा वै प्रेङ्खो योषासन्दी।'[४]

पदार्थों में लिङ्ग विवेचन किया गया है कि वृषभ पुल्लिङ्ग है तथा सुब्रह्मण्या स्त्रीलिङ्ग।

द्वितीय उद्धरण में प्रेङ्ख को पुल्लिङ्ग से अभिहित किया गया है तथा आसन को स्त्रीलिङ्ग से अभिहित किया गया है।

शतपथ ब्राह्मण में लिङ्ग सम्बन्धी उद्धरण मिलता है—

---

१. अथर्ववेद १०.३.१.
२. ऐतरेय ब्राह्मण ६.३.
३. वही
४. वही १.२.४.

'लिङ्गं मनो यत्र निषक्तं अस्य।' [१]

एक अन्य स्थान पर पुमान्, स्त्री तथा नपुंसक लिङ्ग—तीनों का विवरण दिया गया है—

'इत्थं ह त्व एवापि त्रेधा विहितो यद् अस्मिंस्त्रेधा विहिता इष्टका उपाधीयन्ते पुन्नाम्नः स्त्रीनाम्न्यो नपुंसकनाम्न्यः।'[२]

अर्थात् ईटों को तीनों लिङ्गों से विहित जाना जाता है। पुनः व्याख्या की गयी है कि ईटों को स्त्रीलिङ्ग से अभिहित जानना चाहिये, पुल्लिङ्ग अथवा नपुंसकलिङ्ग से नहीं—

'ता उ सर्वा इष्टका इति एवाचक्षते
नेष्टक इति नेष्टकं इति वाचो रूपेण।'[३]

गोपथ ब्राह्मण में अव्यय की व्याख्या करते हुये तीनों लिङ्गों का संकेत किया गया—

'त्रिषु लिङ्गेषु।'[४]

वैदिक ग्रन्थों में लिङ्ग का विवेचन स्थान-स्थान पर काल-क्रम से परम्परा में उपलब्ध होता है। ऋक् प्रातिशाख्य में पुल्लिङ्ग तथा नपुंसकलिङ्ग के सन्दर्भ में इस प्रकार विवेचना की गयी है—

'पुंस्प्रवाद-अन्तःपादं विग्रहेऽकारपूर्वः पतिशब्दे द्व्यक्षरे पुंस्प्रवादे।'[५]

वैदिक ऋषियों ने भी नपुंसकलिङ्ग की व्यापकता को सिद्ध किया है। अनेकानेक पदार्थों के नाम नपुंसकलिङ्ग से अभिहित होते हैं। वाजसनेय प्रातिशाख्य में नपुंसकलिङ्ग के महत्त्व को दर्शाया गया है—

---

१. शतपथ ब्राह्मण १.४.७.२
२. वही १०.५.१.२
३. वही १०.५.१.३.
४. गोपथ ब्राह्मण .१.१.२६
५. ऋक् प्रातिशाख्य ४.४२. तथा ऋक् प्रातिशाख्य १३.२२.
'नपुंसकं यद् अष्मान्तं तस्य बह्वभिधानजः
अनुस्वारो दीर्घ-पूर्वः सिष्टान्तेषु पदेषु सः।'

'महो नपुंसके।'[१]

अथर्ववेद प्रातिशाख्य में एक स्थल पर नपुंसक लिङ्ग को आद्युदात्त माना गया है तथा उसे ब्रह्म की संज्ञा दी गयी है—

'नपुंसकं आद्युदात्त ब्रह्मेति।'[२]

शौनक के बृहद देवता में तीनों लिङ्गों का विवरण उपलब्ध होता है—

"त्रीण्येव लोके लिङ्गानि पुमान् स्त्री च नपुंसकम्।'[३]

उपनिषद्-ग्रन्थों में भी विस्तार से लिङ्ग-निरूपण किया गया है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में उस परमेश्वर के स्वरूप का वर्णन करते हुये कहा गया है कि उसका न तो कोई स्वामी है और न ही उसका कोई स्वरूप है—

'न तस्य कश्चित् पतिरस्ति लोके
न चेशिता नैव च तस्य लिङ्गम्।'[४]

मैत्रायण्युपनिषद् में भी एक स्थल पर लिङ्ग से अभिप्राय वाचक, चिह्न से लिया गया है—

'सङ्कल्पाध्यवसायाभिमानलिङ्गः।'[५]

अर्थात् वह प्रजापति सङ्कल्प, अध्यवसाय व अभिमान-स्वरूप वाला है।

इसी उपनिषद् में एक स्थल पर ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन करते हुये यों कहा गया है कि वह ब्रह्म महत् तथा विशेष-स्वरूप वाला है, तथा वह अपने ही द्वारा निर्मित चिह्नों से सुशोभित है—

'महदाद्यं विशेषान्तं लिङ्गम्' 'स्वकैर्लिङ्गरूपगृह्यः।'[६]

---

१. वाजसनेय प्रातिशाख्य २.३२.
२. अथर्ववेद प्रातिशाख्य १.१७
३. बृहद्देवता २.६९
४. श्वेताश्वतरोपनिषद्, ६.९
५. मैत्रायण्युपनिषद् २.५.
६. वही ६.१०.३१.

श्वेताश्वतरोपनिषद में एक स्थल पर 'लिङ्ग' से अभिप्राय 'मूल' से लिया गया है–बह्नेर्यथा योनिगतस्य मूर्त्तिर्न दृश्यते नैव च लिङ्गनाशः।[१]

जिस प्रकार काष्ठ में अन्तर्निहित अग्नि का स्वरूप दिखाई नहीं देता, किन्तु वह समाप्त भी नहीं हुआ है।

उपनिषद् तो वेदों के सार हैं ही, समस्त वैदिक-दर्शन उपनिषद्-ग्रन्थों में समाहित हैं। अतः लिङ्ग-स्वरूप भी दार्शनिक रूप में प्रस्तुत हुआ है। लिङ्ग से ब्रह्म-ग्रहण दर्शन की चरम सीमा को परिलक्षित करता है।

पुराणकाल में लिङ्ग-स्वरूप बृहत् तथा दार्शनिक हो गया था, इसका सबसे बड़ा प्रमाण स्वयं में 'लिङ्ग-पुराण' है, जिसमें शिव दर्शन का विस्तृत विवेचन किया गया है। लिङ्ग से शिव का सारूप्य किया गया है। लिङ्ग से महत् तथा जीवरूप भी ग्रहण किया गया है।

वैदिक परम्परा में अनेक वैदिक मन्त्रों की व्याख्या करते हुये यास्क ने लिङ्ग-स्वरूप पर प्रकाश डाला है—

"अयाते अग्ने समिध विधेम', इति स्त्रियाः।
'एना वो अग्निम्' इति नपुंसकस्य।
'एना पत्या तन्वं संसृजस्व' – इति पुंसः ।[२]

अर्थात् तीन मन्त्रों में अग्नि देवता को आह्वान करते हुये तीन लिङ्गों का प्रयोग हुआ है।

'अमेनांश्चिज्जनिवतश्चकर्थ'।
'ग्नास्त्वाकृन्तन्नमसोऽतन्वत् ।'[३]

उपर्युक्त दोनों उद्धरणों की व्याख्या करते हुये निरुक्तकार कहते हैं कि 'मेना' तथा 'ग्ना' पद स्त्रीवाची समझे जाने चाहिये। 'स्त्री' शब्द की व्युत्पत्ति उन्होंने इस प्रकार की है कि लज्जा अर्थ में 'स्त्यै' धातु से स्त्री शब्द व्युत्पन्न हुआ। स्त्री का आदर किया जाता है, अतः इस अर्थ में 'मात्रयत्येना'

---

१. श्वेताश्षतरोपनिषद् ।१.३
२. निरुक्त ३.४.२१.
३. मैत्रायणी संहिता १.९.४

में व्युत्पन्न 'मेना' शब्द बना तथा पुरुष इनके पास जाते हैं—गच्छत्येनाः'—इस अभिप्राय से ग्ना शब्द व्युत्पन्न हुआ—

"मेना ग्ना इति स्त्रीणां स्त्रियः स्त्यायतेरपत्रपणकर्मणो मेना मानयत्येना ग्ना गच्छत्येनाः ।'[१]

उपर्युक्त विवेचनों से स्पष्ट है कि महभाष्यकार ने लिङ्ग के जिस विस्तृत स्वरूप को महाभाष्य में प्रस्तुत कर उसे एक व्याकरण-दर्शन का स्वरूप प्रदान किया, उसकी पृष्ठभूमि वैदिक-ग्रन्थों में उन्हें उपलब्ध हो गयी थी। समस्त चर-अचर जगत् का विभाजन इस प्रकार के लिंग के आधार पर किया जाना अत्यावश्यक है, जिसके द्वारा वस्तु-ज्ञान भली भांति हो सके तथा जो वस्तु अन्य वस्तुओं से उस प्रत्यायक-चिह्न के आधार पर पृथक् की जा सके-यह ज्ञान वैदिक ऋषियों को भली प्रकार से था—इसका प्रमाण अनेकानेक मन्त्रों में मिल जाता है।

पाणिनि द्वारा विवेचित लिङ्ग-स्वरूप

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने आचार्य पाणिनि द्वारा उक्त 'स्त्रियाम्'[२] सूत्र को आधार बनाकर ही लिङ्ग तत्त्व का जो विशद् विवेचन प्रस्तुत किया है, उससे स्पष्ट है कि आचार्य ने लिङ्ग-विषय पर पृथक् से सूत्र रचना नहीं की, अपितु लिङ्ग-विषय अथवा लिङ्ग-विभाजन को लोकविहित मानते हुये बड़े ही स्वाभाविक रूप में स्त्री-पुमान् तथा नपुंसक लिङ्ग से सम्बन्धित विषयों को लेकर सूत्र-रचना कर दी। भ्वादिगण के प्रकरण में 'पठितं वाऽन्यस्य संयोगादेः'[३] सूत्र के अन्तर्गत 'स्त्यै' धातु का विवरण दिया गया है। 'स्त्यै' धातु को आचार्य ने शब्द व संघात में माना है—

'स्त्यै शब्दसंघातयोः'

स्त्री शब्द में 'स्त्यै' धातु से संघात-संस्त्यान अर्थ ग्रहण होता है, 'स्त्यायतेड्रट्'[४] सूत्र से स्त्यै से ड्रट् प्रत्यय के योग में स्त्री शब्द व्युत्पन्न

१. निरुक्त ३.४.२१.
२. अष्टाध्यायी ४.१.३.
३. अष्टाध्यायी ६.४.६८
४. वही, उणादिगण ४.१६५

हुआ। अतः स्पष्ट होता है कि आचार्य पाणिनि ने 'स्त्री' शब्द से उस लिङ्गवाची तत्त्व का बोध किया है, जिसमें संस्त्यान होता है। इसी अर्थ को आधार बना कर महाभाष्यकार ने स्त्रीलिङ्ग की व्याख्या की है।

काशिकाकार वामनजयादित्य ने 'स्त्रियाम्' सूत्र की व्याख्या में कहा है कि स्त्री से तात्पर्य सामान्य-विशेष से है जो 'स्त्रीत्वादि सामान्य-विशेष रूप से गोत्वादि के समान बहुप्रकार से व्यक्त किया गया है। कभी-कभी स्त्रीवाची आश्रय-विशेष का अभाव होने पर उपदेश से ही स्त्री अर्थ ग्रहण हो जाता है, यथा—ब्राह्मणत्वादि के ज्ञान के लिये कोई ब्राह्मण आश्रय-विशेष नहीं है, केवल उपदेश के द्वारा उसका ज्ञान होता है तथा महाभाष्यकार का ही समर्थन करते हुये वे कहते हैं कि स्त्रीलिङ्ग के अभिधेय होने पर अथवा स्त्रीवाची अर्थ में जो प्रातिपदिक प्रयुक्त है, वहां स्त्रीवाची टाप् आदि प्रयुक्त हैं—'सामान्य विशेषाः (१) स्त्रीत्वादयो गोत्वादयः इव (२) बहुप्रकार-व्यक्तयः क्वचिदाश्रयविशेषाभावादुपदेशव्यङ्ग्या एव भवन्ति, यथा ब्राह्मणत्वादयः।'[१]

पुल्लिङ्गवाची पुमान् शब्द की व्युत्पत्ति पाणिनि ने दो प्रकार से बताई है—अदादि प्रकरण में षूङ् धातु का विवरण दिया गया है—'षूङ् प्राणिगर्भविमोचने',[२] अतः जो उत्पन्न करता है वह लोक में पुल्लिङ्ग में 'पुमान्' शब्द से अभिहित होता है। 'पा' धातु से रक्षणार्थक अर्थ में—'पा रक्षणे'[३] सूत्र से भी पुमान् शब्द की व्युत्पत्ति सिद्ध की गयी है। अतः जो बलशाली है, सामान्य रूप में, स्त्री की रक्षा करने में समर्थ है, वह पुमान् है। पा धातु से डुमसुन् प्रत्यय का विधान करके 'पुमान्' शब्द निष्पन्न हुआ है। अतः दोनों ही अर्थों (प्रसवार्थ तथा रक्षणार्थ) में पुमान् शब्द से पुल्लिङ्ग ज्ञान होता है तथा पुमान् शब्द पुरुष व्यक्ति का द्योतक होता है। आचार्य पाणिनि ने पूर्वाचार्यों द्वारा उक्त 'लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने'[४] तथा 'विशेषणानां चाजातेः'[५] सूत्रद्वय में उद्धृत लिङ्ग-संख्या विधान को अशिष्य माना है—

---

१. काशिका ४.१.३.
२. अष्टाध्यायी ७.२.७८
३. वही ३.४.१११
४. वही १.२.५१
५. वही १.२.५२

'तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात्।'[१]

उनका अभिप्राय सम्भवतया यह था कि लोकव्यवहार में जिस प्रकार लिङ्ग प्रयोग है, उसी के आधार पर व्याकरण में लिङ्ग सम्बन्धी नियम बना देने चाहिए। इसीलिये उन्होंने लिङ्ग सम्बन्धी सूत्रों की पृथक् से रचना नहीं की, अपितु शब्द प्रयोगों में ही लिङ्ग-व्यवहार दर्शाया है।

काशिकाकार ने भी स्पष्ट किया है कि लिङ्ग-विधान तो लोक-व्यवहार में स्वाभाविक रूप से ही होता चला आ रहा है, उसके लिये नियम-विधान की आवश्यकता नहीं है।[२]

'स्वमोर्नपुंसकात्'[३] सूत्र का अध्ययन करने से स्पष्ट होता है कि नपुंसक लिङ्ग शब्द में ही ग्रहण होता है। इससे स्पष्ट है कि आचार्य लिङ्ग को शब्दनिष्ठ मानते हैं। एक अन्य स्थल पर उद्धरण से यह अभिप्रेतार्थ भी मिलता है कि आचार्य लिङ्ग से अर्थनिर्देश भी लेते हैं— 'उदीचामातः स्थानेर्यकपूर्वायाः।'[४]

अर्थात्-स्त्रीवाची शब्द से तात्पर्य है स्त्र्यर्थक शब्द, जिनेन्द्रबुद्धि का कथन इस प्रकार है—

'स्त्र्यधिकारविवृतः प्रत्ययः स्त्रीप्रत्ययः तस्यैव प्रतिपत्तिर्यथा स्यादित्येवमर्थः स्त्रीलिङ्गेन निर्देशः।'[६] स्त्री अधिकार में निर्दिष्ट प्रत्यय-युक्त शब्द से तात्पर्य है—स्त्रीवाची शब्द, स्त्र्यर्थयुक्त शब्द।

---

१. अष्टाध्यायी १.२.५३
२. काशिका वही
'तत्र लिङ्गं वचनं च स्वभावसिद्धमेव, न यत्नप्रतिपाद्यम्।'
'एवं च लिङ्गप्रकरणं जात्याख्यायामित्यादि संख्याप्रकरणं च पूर्वाचार्यानुरोधेन कृतमिति ध्वनितं सूत्रकृता।' तथा महाभाष्य १.२.२८३ सूत्र 'उद्योत'
४. अष्टाध्यायी ७.१.२३
५. अष्टाध्यायी ७.१.४६
६. काशिकावृत्ति, न्यास ७.३.४६

'अर्थगतं स्त्रीत्वं शब्दे समारोप्य स्त्रीलिङ्गं निर्देशः।'[१]

'शब्दरूपाश्रया चेयं द्विलिङ्गता क्वचिदर्थभेदेनापि व्यवतिष्ठते।'[२]

हरदत्त मिश्र ने भी लिङ्गता शब्द व अर्थगत मानी है।

वायनजयादित्य ने स्वयं लिङ्गता शब्दनिष्ठ तथा अर्थनिष्ठ दोनों मानी है। अर्थभेद से लिङ्गता इस प्रकार स्पष्ट होती है, यथा-पद्म व शङ्ख शब्द निधि के अर्थ में पुल्लिङ्ग हैं तथा जलज के अर्थ में उभयलिङ्ग हैं।

आचार्य ने एक सूत्र में—'पुंयोगादाख्यायाम्' में अभिप्राय अभिव्यक्त किया है कि पुंयोग के हेतु से स्त्रीलिङ्ग में जो पुंवाची प्रातिपदिक विद्यमान है, उसको ङीष् प्रत्यय का निर्देश किया गया है। अभिप्राय यह है कि आचार्य ने लिङ्ग-गुण अन्योन्याश्रित माने हैं, अर्थात् स्त्रीलिङ्ग के कुछ गुण धर्म पुल्लिङ्ग में उपलब्ध होते हैं तथा पुल्लिङ्ग के कुछ गुण स्त्रीलिङ्ग में विद्यमान रहते हैं। महाभाष्यकार भी इसी अभिप्राय के पक्षपाती हैं। काशिकाकार पुल्लिङ्ग तथा स्त्रीलिङ्ग के प्रवृत्ति निमित्त को इस प्रकार स्पष्ट करते हैं—

'पुंसि शब्दप्रवृत्तिनिमित्तस्य सम्भवात्
पुंशब्दा सते, तद्योगात्स्त्रियां वर्त्तन्ते।'[३]

लिङ्ग-सम्बन्धी कुछ अन्य नियम भी आचार्य ने लिङ्गानुशासन में उद्धृत किये हैं। इन नियमों में तीनों लिङ्गों में पृथक्-पृथक् रूप से वाच्य शब्दों की सूची दी गयी है। अव्यय तथा युष्मदस्मद् को पृथक् से किसी लिङ्ग में नहीं माना है, क्योंकि ये पद द्रव्य के अनुसार किसी भी लिङ्ग में निर्धारित किये जा सकते हैं सर्वादि सर्वनामों को भी आचार्य ने इसी कोटि में माना है। आचार्य ने द्वन्द्व तथा तत्पुरुष समास में लिङ्ग का विधान परवत् किया है—

'परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः।'[४]

---

१. काशिकावृत्ति, पदमञ्जरी ७.३.४६
२. काशिका ७.४.३१
३. काशिका ४.१.४८
४. अष्टाध्यायी २.४.२०

इस प्रकार लिङ्ग सम्बन्धी नियमों का अध्ययन करने से स्पष्ट हो जाता है कि लोक-प्रयोग में आने वाले शब्दों का लिङ्ग निर्धारण तो आचार्य ने किया है किन्तु लिङ्ग-विधायक नियमों की रचना उन्होंने नहीं की है, क्योंकि वे लिङ्ग को द्रव्य का स्वाभाविक गुण मानते हैं, जिसका निर्धारण लोक में स्वाभाविक रूप से होता है।

परवर्त्ती वैयाकरणों के मत में लिङ्ग

महाभाष्यकार ने लिङ्गतत्त्व पर जो विवेचन दार्शनिक दृष्टि से प्रस्तुत किया, परवर्त्ती अनेक वैयाकरणों ने उस विषय पर अपने-अपने मतों का उद्घाटन किया। महाभाष्यकार के पश्चात् परम्परा में वाक्यपदीयकार एक ऐसे वैयाकरण हुये, जिन्होंने महाभाष्यकार द्वारा चर्चित विषयों को दार्शनिक रूप में समझा तथा विषय को पर्याप्त विस्तार प्रदान किया। वाक्यपदीय के तृतीय काण्ड में भर्तृहरि ने लिङ्ग-समुद्देश में लिङ्ग विषय पर पृथक् से विचार किया है। उन्होंने लिङ्ग सम्बन्धी उन सभी सम्भावनाओं को प्रस्तुत किया है जिनका विवरण महाभाष्य में उपलब्ध होता है, साथ ही अन्य अनेक दार्शनिक सिद्धान्तों के मत भी प्रस्तुत सन्दर्भ में प्रस्तुत किये हैं। प्रो० अय्यर. के शब्दों में—

"One feels that the Vaiśeṣika, the Sāmkhya or the Bauddha is always round the corner to take part in the discussion."[1]

वाक्यपदीयकार ने शब्दशक्ति के आधार पर लिङ्ग के सात विकल्प बताये हैं—

'उपादानविकल्पाश्च लिङ्गानां सप्तवर्णिताः।
विकल्पसन्नियोगाभ्यां ये शब्देषु व्यवस्थिताः।'[२]

हेलाराज ने स्त्री, पुमान् तथा नपुंसक लिङ्ग के आधार पर शब्दों का विभाजन माना है—

'विकल्पेन स्त्री पुंनपुंसकानां शब्दैः प्रत्यायने चत्वारो भेदाः।'[३]

१. Bhartṛhari, p.403.
२. वाक्यपदीय ३.१३.३
३. वही 'टीका'

कुछ शब्द पुल्लिङ्ग तथा नपुंसक लिङ्ग दोनों में ही उपलब्ध होते हैं— यथा, शङ्खः, पद्मः, शङ्खं, पद्मम् आदि। कुछ विषय नपुंसकलिङ्ग व स्त्रीलिङ्ग में नियत होते हैं यथा—भागधेयं भागधेयी, भेषजं भेषजी आदि। अन्य विषय स्त्री व पुल्लिङ्ग से युक्त होते हैं, यथा-इषुः, अशनिः वत्सः, वत्सा आदि तथा अन्य कुछ शब्द तीनों लिङ्गों में नियत होते हैं, यथा-तटः, तटी, तटम् आदि। इन चार विकल्पों के अतिरिक्त हेलाराज ने सन्नियोग भी माना है, जिनके आधार पर निर्जीव पदार्थों का लिङ्ग-निर्धारण होता है—

'सन्नियोगो नियमः, तेन त्रयो विकल्पाः, तद् यथा-वृक्षादयः पुंस्येव नियताः, खट्वादयः स्त्रियामेव, दध्यादयो नपुंसक एवेति सप्तविकल्पाः।'[१]

तीनों लिङ्ग-जातियां —स्त्रीत्व, पुंस्त्व तथा नपुंसकत्व, एक ही अर्थ में अविरुद्ध रूप से विद्यमान रहती हैं। गोत्व, महिषीत्व आदि जातियां परस्पर विरूद्ध हैं, परन्तु इन जातियों में तीनों लिङ्ग-जातियां समान भाव से विद्यमान रहती हैं—

'तिस्रो जातय एवैताः केषाञ्चित् समवस्थिताः
अविरुद्धा विरुद्धाभिर्गोमहिष्यादिजातिभिः।'[२]

उपर्युक्त कारिका में वैशेषिक मत संकेतित होता है। वैशेषिक दर्शन के अनुसार लिङ्ग जाति है तथा लिङ्ग में तीनों भेद स्वयं में पृथक्-पृथक् जाति हैं। ये लिङ्ग जाति द्रव्य में अन्य जाति के साथ विद्यमान रहती हैं, यथा गोत्व जाति में स्त्रीत्व जाति। प्रो० अय्यर का कथन है—

"In an object like cow, conveyed by the word gauh we cognise not only the universal gotva but also the universal of the faminie gender, the strītva. These two universals can co-exit in the same object."[3]

---

१. वाक्यपदीय ३.१३.३. 'टीका'
२. वही ३.१३.४
३. Bhartṛhari, p.363

अतः बुद्धि में अवस्थित स्त्रीत्वादि जाति द्रव्य में समवाय रूप से रहती है, यथा-हस्तिनी, बडवा आदि में स्त्रीता एक ही है, यद्यपि ये जातियां परस्पर भिन्न हैं—

'हस्तिन्यां वडवायाञ्च स्त्रीति बुद्धेः समन्वयः।
अतस्तां जातिमिच्छन्ति द्रव्यादिसमवायिनीम्।"[१]

हेलाराज ने व्याख्या की है कि एक ही पदार्थ में लिङ्ग की भिन्न-भिन्न जातियां भी देखी जा सकती हैं, यथा—'भाव' शब्द से पुल्लिङ्गवाची सत्ता का बोध होता है, 'सत्ता' शब्द से स्त्रीत्वोपाधिक सत्ता कही जाती है तथा 'सामान्य' शब्द से नपुंसकोपाधिक सत्ता का बोध होता है।[२]

पुनः, वे लिङ्ग जाति को भी पृथक्-पृथक् मानते हैं—

'तथा च स्त्रीत्वं स्त्रीता स्त्रीभाव इति लिङ्गेष्वपरो लिङ्गयोग इति वक्ष्यते।'[३]

द्रव्य का उद्भव गुण से होता है तथा द्रव्य की तीन लिङ्गावस्थायें सांख्य के तीन गुण-सत्त्व, रजस्, तमस् हैं, अथवा द्रव्य में स्थित तीन गुण ही तीन लिङ्गों के रूप में परिलक्षित होते हैं—

'तदुपव्यञ्जना जातिर्गुणावस्था गुणास्तथा।'[४]

इन गुणों का आविर्भाव, तिरोभाव तथा साम्य पदार्थों में तीनों लिङ्गों—पुमान्, स्त्री तथा नपुंसक के रूप में सदा विद्यमान रहता है[५] सत्त्वादिगुणों से युक्त लिङ्ग समस्त पदार्थों में उपलब्ध होते हैं, उसी प्रकार सांख्य-दर्शन के निर्गुण पुरुष में भी प्रकृति के संयोग में तीनों लिङ्गों (सत्त्वादि) की स्थिति देखी जाती है, क्योंकि प्रकृति त्रिगुणात्मिका है। पण्डित रामाज्ञा पाण्डेय का अभिमत है—

'ननु निर्गुणे पुरुषे कथं चैतन्ये चितिः। पुरुष इत्येवं लिङ्गत्रययोग इति चेन्न बिम्बप्रतिबिम्बन्यायेन प्रकृतिगतलिङ्गानां तत्र प्रतिबिम्बात्।'[६]

१. वाक्यपदीय ३.१३.५
२. वही ३.१३.५ 'टीका'
३. वही
४. वाक्यपदीय ३.१३.१
५. वही ३.१३.१
६. व्याकरणदर्शन भूमिका, पृ० २५२

गुणों के आविर्भाव तथा तिरोभाव की प्रवृत्ति की एक स्थिति साम्यावस्था है जो नपुंसक लिङ्ग की द्योतक है। वाक्यपदीयकार ने नपुंसकलिङ्ग की विवक्षा इस प्रकार है—

'प्रवृत्तेरेकरूपत्वं साम्यं वा स्थितिरुच्यते
आविर्भावतिरोभावप्रवृत्या वावतिष्ठते।
गुणा इत्येव बुद्धेर्वा निमित्तत्वं स्थितिर्मता
स्थितेश्च सर्वलिङ्गानां सर्वनामत्वमुच्यते।'[१]

हेलाराज का मन्तव्य है कि नपुंसकलिङ्ग का प्रत्यय गुणों की स्थिति होने के अतिरिक्त वह तत्त्व है, जिसके द्वारा दोनों लिङ्गों का ज्ञान होता है। आविर्भाव तिरोभाव का ज्ञान उनकी स्थिति के द्वारा ही सम्भव है। इस प्रकार नपुंसक लिङ्ग में दोनों तत्त्व समाहित हैं।[२]

वाक्यदीयकार का मत है कि वे पदार्थ, जिनका लिङ्ग-निर्धारण नहीं हुआ है, उनके शब्द प्रक्रिया-व्यवहार में लिङ्ग निर्धारित कर देते हैं, यथा 'दारा:', 'गुरव:' आदि शब्दों के बहुवचन में उच्चारित होने पर उस शब्द विशेष में बहुत्व का भान हो जाता है जो लोक में एकत्व में प्रसिद्ध है।[३]

लिङ्ग को वस्तु धर्म नहीं माना जा सकता, क्योंकि एक ही द्रव्य में तीनों लिङ्गों का अवधारण हो जाता है अथवा एक ही द्रव्य का ज्ञान तीनों लिङ्गों से हो जाता है। लिङ्ग शब्द के औचित्य का ज्ञान कराने में समर्थ है, अत: लिङ्ग को शब्द-धर्म माना जा सकता है, लिङ्ग-ज्ञान को उन्होंने शब्द संस्कार माना है—

'इदं वेयमयं वेति शब्दसंस्कारमात्रकम्
निमित्तदर्शनादर्थे कैश्चित् सर्वत्र वर्ण्यते।'

अन्त में वाक्यपदीयकार निष्कर्ष रूप में कहते हैं कि प्रत्येक पदार्थ में तीनों लिङ्ग विद्यमान रहते हैं, किन्तु सामान्य जन को वे तीनों लिङ्ग दृष्टिगत नहीं होते, सामान्य जन को एक ही लिङ्ग का प्रत्यय होगा।[४]

१. वाक्यपदीय ३.१३.१७.१८.
२. वही ३.१३.१८
३. वाक्यपदीय ३.१३.३०
४. वही ३.१३.३१

फिर भी एक ही लिङ्ग द्रव्य के सही रूप का प्रत्यय कराने में समर्थ है। प्रो० अय्यर की मान्यता है कि एक ही द्रव्य में तीनों लिङ्गों का ज्ञान शिष्ट जन को हो जाता है, सामान्य जन को नहीं होता— "The Sistas can see the three angas but not we mortals."[1]

वाक्यपदीयकार लिङ्ग की व्यापकता की ओर संकेत करते हैं उनके मत में ऐसी कोई अवस्था नहीं है, जिसमें लिङ्ग का योग न हो सके। जो गुणातीत पदार्थ हैं, उनमें भी लिङ्ग-व्यवस्था होती है, यथा-चिति बुद्ध्यवस्थित है, दृष्टिगत नहीं होती है, वह बुद्धि के ही गुणों का ग्रहण करने के कारण चैतन्य के समान प्रतिभासित होती है।[२]

वाक्यपदीयकार महाभाष्यकार के समान ही लिङ्ग-निर्धारण लोकाश्रय तथा शिष्टानुप्रयोग से निश्चित हुआ मानते हैं। परवर्ती अन्य अनेकानेक वैयाकरणों ने भी संस्कृत व्याकरण ग्रन्थों पर व्याख्या लिखते हुये लिङ्ग-तत्त्व पर कम या अधिक मात्रा में विवेचन किया ही है, जो वैयाकरण-निकाय में पर्याप्त रूप से मान्य रहा है, ये वैयाकरण भी भिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों से प्रभावित रहे थे। नागेश भट्ट का लिङ्ग के सम्बन्ध में कथन है कि जिन वस्तुओं की सत्ता नहीं है—यथा-शशविषाणादि, उनमें जिस आधार पर प्रातिपदिकत्व होता है, उसी आधार पर लिङ्ग-योग भी होता है—

'केचित्तु यथा बुद्धिविषयार्थत्वेन प्रातिपदिकत्वं तथा लिङ्गयोगोऽपीत्याहुः।'[३]

यद्यपि शशविषाण की पृथक् रूप में सत्ता नहीं है, तथापि 'शश' की सत्ता है तथा 'विषाण' की भी सत्ता है, इसलिये 'शशविषाण' की भी काल्पनिक सत्ता स्वीकार की जाती है और उसके आधार पर लिङ्ग-योग किया जा सकता है, मूलतः महाभाष्यकार ने यही माना है—

'असत्तु मृगतृष्णावत्।'

हरदत्त की भी यही मान्यता है कि पुमान्, स्त्री तथा नपुंसकलिङ्गों की प्रवृत्ति की व्यापकता के आधार पर सर्वत्र सब पदार्थों में लिङ्गयोग

---

१. Bhartṛhari, p.369
२. वाक्यपदीय ३.१४.३२६, ३२७.
३. महाभाष्यप्रदीपोद्योत ४.१.३.

सम्भव है, अतः शशविषाणादि में भी लिङ्ग-निर्धारण किया जा सकता है।[१] हरदत्त परम्परागत मान्यता को ही स्वीकार करते हैं कि सभी पदार्थों में तीनों लिङ्गों की सत्ता होते हुये किसी पदार्थ का किसी लिङ्ग-विशेष के ही द्वारा बोध होता है, वे दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं कि यथा तक्षक तक्षण कार्य करता है, उसके अतिरिक्त उसके जीवन के अन्य अनेक क्रिया-कलाप हैं, जिनको वह सम्पन्न करता है, किन्तु लोक में वह तक्षण कार्य के ही द्वारा जाना जाता है—

'तद् यथा तक्षा युवा कृष्णः कामुक इति तक्षादिशब्दानामेकार्थपर्यवसितानामपि व्यवस्थित् एवाकारो वाच्यः, तथा लिङ्गेष्वपि द्रष्टव्यम्।'[२]

जिनेन्द्र बुद्धि उपचय तथा अपचय में अन्योन्याश्रयभाव मानते हैं, जोकि पूर्ववर्ती वैयाकरणों का ही अनुकरण है। उपचय (वृद्धि अर्थ में) के साथ भी कुमारी स्त्री ही है, यथा—'उपचीयते कुमारी' तथा 'अपचये' (ह्रास) के साथ भी वृक्ष पुंस्त्व से युक्त है, यथा—'अपचीयते वृक्षः' अतः उपचय तथा अपचय पुंस्त्व तथा स्त्रीत्वबोधक दोनों का परस्पर सम्बन्ध है। इनको लिङ्ग-विशेष से ही संयुक्त करना असंगत होगा।[३]

किन्तु हरदत्त का मत जिनेन्द्रबुद्धि के मत से भिन्न है। उनका मन्तव्य है कि 'उपचीयते कुमारी' जैसे स्थलों में भी कुमारी शब्द किसी धर्म के अपचय का ही द्योतक है। किसी अन्य धर्म के उपचय का बोध तो किसी अन्य शब्द के प्रयोग से होता है, यथा—'क्षीयते वृक्षः'। यहां अपचय ही मुख्यार्थ धर्म है—'उपचीयते कुमारी इत्यत्रापि कुमारी शब्दः स्वमहिम्ना कस्यचिद्धर्मस्यापचयमेवाह शब्दान्तरप्रयोगात्तु धर्मान्तरस्योपच यः प्रतीयते एवं क्षीयते वृक्ष इत्यत्रापचयः। तदेवं सर्वमनाकुलमिदं दर्शनम्।'[४]

काशिकाकार ने लिङ्ग को सामान्य-विशेष माना है। स्त्रीत्वादि सामान्य-विशेष है। गोत्वादि के समान ये अनेक प्रकार के होते हैं तथा आश्रय-विशेष का अभाव होने पर इनका ज्ञान उपदेश से व्यङ्ग्य होता है। यथा ब्राह्मणत्वादि का ज्ञान उपदेश के ही आधार पर होता है—

१. पदमञ्जरी ४.१.३.
२. वही
३. काशिकावृत्ति, न्यास ४.१.३.
४. पदमञ्जरी ४.१.३.

.......'क्वचिदाश्रयविशेषाभावाद् उपदेशव्यङ्गया एव भवन्ति, यथा ब्राह्मणत्वादयः।'[१]

जिनेन्द्रबुद्धि ने सामान्य-विशेष से अर्थ लिया है कि जो अपनी जाति में सामान्य है तथा अवान्तर जाति में होने पर विशेष है, यथा—गो व्यक्ति का गोत्व गो जाति में होने पर सामान्य भी है तथा अश्वत्वादि से भिन्न होने पर विशेष भी है अथवा सत्ता से व्यतिरिक्त अन्य अर्थों में सामान्य-विशेष शब्द रूढ़ हैं।[२]

अतः लिङ्गों की तीन सामान्य जातियां तथा तीन अवान्तर जातियां ग्रहण होती हैं। वाक्यपदीय में भी यही अभिमत दिया गया है—

'तिस्रो जातय एवैताः केषांचित्समवस्थिता।
अविरुद्धा विरुद्धाभिर्गोमहिष्यादिजातिभिः।'[३]

भट्टोजिदीक्षित लौकिक लिङ्ग-विशिष्ट शब्दों को शास्त्रीय लिङ्ग-विशिष्ट मानते हैं—

'कुमारब्राह्मणादिशब्दास्तु लौकिकपुंस्त्वविशिष्टे शास्त्रीये पुंस्त्वे शक्ताः लौकिकस्त्रीत्वविशिष्टे च शास्त्रीयस्त्रीत्वे।'[४]

कौण्डभट्ट लिङ्ग को शब्दनिष्ठ मानते हैं, महाभाष्यकार का भी यही मत है। व्यवहार में 'पुल्लिङ्गः' शब्दः इस प्रकार का प्रयोग होता है अन्यथा 'घटः शब्दं' आदि प्रयोग करने होंगे, अथवा उपचारादि के आधार पर लिङ्ग-ज्ञान करने पर निमित्त आदि की कल्पना करनी पड़ेगी। लिङ्ग को अर्थनिष्ठ मानने पर तटः, तटी, तटम् तथा आत्मा, ब्रह्म आदि प्रयोगों के अर्थगत न होने पर इनकी सम्भावना नहीं की जा सकती।[५]

काशिकाकार ने क्रिया-विशेषणों को नपुंसकलिङ्गवाची माना है—

---

१. काशिकावृत्ति ४.१.३.
२. पदमञ्जरी ४.१.३.
३. वाक्यपदीय ३.१३.४.
४. शब्दकौस्तुभ १.२.६५
५. वैयाकरणभूषणसार पृ० १२३

'क्रिया-विशेषणानां च क्लीबतेष्यते।
मृदु पचति, शोभनं पचति।'[१]

जिनेन्द्र बुद्धि ने और अधिक स्पष्ट किया है। उनका अभिप्राय है कि क्रिया के साध्य होने से कर्मत्व होता है, अत: क्रिया का विशेषण कर्म है जो असत्त्व है। अत: जब क्रिया ही द्रव्य नहीं है, तब उसका विशेषण कर्म भी द्रव्य नहीं होगा, और लिङ्ग द्रव्य का ही सम्भव है—

'क्रियाया: साध्यत्वात् कर्मत्वम्। तद् विशेषणमपि कर्म भवति। तच्चासत्वं भवति। क्रियैव हि तावद् द्रव्यं न भवति। कुत: पुनस्तद्विशेषणं द्रव्यं भविष्यति।'[२]

परवल्लिङ्ग के सन्दर्भ में हरदत्त ने 'अमित्र' पद का उदाहरण दिया है। उन्होंने 'अमित्र' को नञ् समास में नहीं गिना है अपितु 'अमि' धातु से त्रच् प्रत्यय के संयोग से 'अमित्र' शब्द व्युत्पन्न हुआ, ऐसा उनका मत है—

'अमेर्द्विषतीति त्रच् प्रत्ययः। न पुनरयं नञ् समासः। परवल्लिङ्गप्रसङ्गात्। लोकाश्रयत्वात् लिङ्गस्य।'[३]

अत: उपर्युक्त वैयाकरणों के लिङ्ग सम्बन्धी कतिपय संकेतों को ध्यानावगत करके यह निश्चय किया जा सकता है कि वैयाव्करणों ने न केवल व्याकरण-दृष्टि से ही प्रस्तुत विषय का अध्ययन किया, अपितु दार्शनिक दृष्टि से भी उस विषय का विवेचन प्रस्तुत किया। ये वैयाकरण निश्चित रूप से पतञ्जलि तथा भर्तृहरि के दार्शनिक पक्षों से प्रभावित रहे थे, तभी तो स्थान-स्थान पर प्रस्तुत विषय को लेकर अपने मान्य मत प्रस्तुत किये।

अन्य दर्शन-सम्प्रदायों में लिङ्ग-विवेचन

लिङ्ग-तत्त्व पर विभिन्न दर्शन-सम्प्रदायों में पर्याप्त विचार किया गया तथा उसे न केवल एक तत्त्व के रूप में प्रस्तुत किया गया, अपितु उसे महदादि के रूप में भी स्वीकार किया गया। महाभाष्यकार स्वयं सांख्य व वैशेषिक दर्शनों से प्रभावित थे तथा वाक्य पदीयकार ने भी इन दर्शनों

१. काशिका २.४.१८
२. काशिकावृत्ति, न्यास २.३.३३
३. पदमञ्जरी ३.२.१३१

के मतों का उल्लेख किया है। अत: यह स्पष्ट हो जाता है कि इन अनेक दर्शन-सम्प्रदायों के आचार्यों ने लिङ्ग-तत्त्व को एक दार्शनिक रूप प्रदान किया।

बौद्ध दर्शन

शून्यवाद के प्रतिपादक बौद्धाचार्य प्रमाण को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार शब्दज, लिङ्गज तथा इन्द्रियादिज ज्ञान ग्राह्य नहीं है, उनका मत है—

"ग्राह्यं वस्तु प्रमाणं हि ग्रहणं यदितोऽन्यथा।
न तद्वस्तु न तन्मानं शब्दलिङ्गेन्द्रियादिजम्।"[१]

लिङ्ग अनुमान प्रमाण है। लीन अर्थात् गुह्य पदार्थ का जो ज्ञान होता है वह लिङ्ग ज्ञान है—

"लीनमर्थं' गमयति तल्लिङ्गं धूमादिकम् तच्च ज्ञानं अनुमितिः।'[२]

प्रत्यक्ष से व्यतिरिक्त अर्थ का ज्ञान लिङ्ग के द्वारा होता है, यथा—व्यक्ति पर्वत पर अग्नि का प्रत्यक्ष करके महानसादि में पहले देखी गयी अग्नि के सदृश जानकर अग्नि की कल्पना कर लेता है। बौद्ध दार्शनिकों का मत है कि यह लिङ्ग ज्ञान कल्पित विषययुक्त होने के कारण प्रमाण नहीं है। पर्वत पर देखी गयी अग्नि के आधार पर पहले देखी गयी अग्नि के सादृश्य की कल्पना की जाती है, वास्तव में पूर्वदृष्ट अग्नि समक्ष नहीं होती। अत: उसका अनुमान किया जाता है, जोकि बौद्धाचार्यों को मान्य नहीं है। बौद्धाचार्यों ने लिङ्ग ज्ञान (अनुमान) को दो प्रकार का माना है—

१. कार्यलिङ्गक अनुमान—विपरीत ज्ञान के आधार पर व्यक्ति जो उच्चारण करता है, उस पर-वचन के आधार पर जो अनुमान किया जाता है, वह कार्यलिङ्गक अनुमान है।

२. अनुपलब्धि-लिङ्गक अनुमान, जहां घट नहीं है, वहां उसकी अनुपलब्धि के आधार पर घटाभाव का अनुमान करना अनुपलब्धिलिङ्गक अनुमान है—

---

१. सर्वदर्शनसङ्ग्रह', बौद्धदर्शन, पृ० ४५
२. वही, पृ० ४५ 'व्याख्या'

"परगता विप्रतिपत्तिस्तु वचनलिङ्गेनेति ब्रुवता कार्यलिङ्गकमनुमानम्। अनुपलब्ध्या केचिदर्थं प्रतिषेधयतानुपलब्धिलिङ्गकम् अनुमानम्।"[१]

बौद्ध दार्शनिकों के अनुसार समस्त जगत् पदार्थ क्षणिक है, अतः उन्होंने लिङ्ग ज्ञान को स्वीकार नहीं किया है। अनुमान प्रमाण में तो पूर्व में अनुभूत द्रव्य का अनुमान करना होता है, अतः वह पूर्वतोदृष्ट द्रव्य भी क्षणिक है। तात्पर्य यह है कि उस द्रव्य के कल्पित ज्ञान के आधार पर लिङ्ग ज्ञान मान्य नहीं है।

मीमांसा दर्शन

मीमांसाकार जैमिनि मुनि ने शब्द व पद की विवेचना करते हुये लिङ्ग तत्त्व पर भी प्रकाश डाला है। लिङ्ग अन्योन्याश्रित नहीं है, एक लिङ्ग उसी प्रत्यय का बोध कराएगा, दूसरे लिङ्ग का बोध नहीं कराएगा—

"लिङ्गविशेष-निर्देशात्समानविधानेष्वप्राप्ता, सारस्वती स्त्रीत्वात्।"[२]

शबरस्वामी ने स्पष्ट किया है कि पुलिङ्गवाची शब्द से पुल्लिङ्ग का ही बोध होगा तथा स्त्रीवाची शब्द से स्त्रीलिङ्ग का ही बोध होगा—

"न च पुंवचनः स्त्रियामभिवदितुमलं भवति शब्दः।"[३]

'एकशेष' समास के सन्दर्भ में व्याख्या करते हुये शबर स्वामी स्पष्ट करते हैं कि द्वन्द्व समास में द्विलिङ्गवाची शब्दों के होने पर पद 'औ' प्रत्ययान्त होगा। अर्थात् पुल्लिङ्गवाची शब्द अन्त में रहेगा तथा 'औ' से संयुक्त रहेगा—

"यत्र न अर्थः प्रकरणं वा विशेषकम् विधायकश्च शब्दः, नास्ति अनुवादा तत्र द्वौ पुंसौ गम्येते।"[४]

लिङ्ग-निर्धारण के सम्बन्ध में शबरस्वामी का एक अन्य मत है कि लिङ्ग प्रातिपदिक का ही विशेषण है, प्रातिपदिक से अतिरिक्त अन्य किसी पद से लिङ्ग सम्बन्धित नहीं है—

---

१ सर्वदर्शनसङ्ग्रह, बौद्धदर्शनम्, पृ० १९

२. मीमांसासूत्र ९.१.४५

३. 'शाबरभाष्य, वही

४. शाबरभाष्य ६.२.२.

"प्रातिपदिक-विशेषणे हि स्त्री शब्दाः। स्त्रियां यत्प्रातिपदिकं ततष्टाबादयः इति। न विशेषणस्य पदान्तरेण सम्बन्धो भवति यथा राजपुरुषो गच्छतीति।"[१]

लिङ्ग के विवक्षितत्व तथा अविवक्षितत्त्व का विवेचन प्रस्तुत करते हुये शबरस्वामी का मत है कि 'अग्निष्टोमीयं पशुम् आलभते', 'अनड्वाहौ युनक्ति', तथा 'वसन्ताय कपिञ्जलान् आलभते' आदि उदाहरण में 'पशुम्', 'अनड्वाहौ', तथा 'कपिञ्जलान्' के लिङ्ग व संख्या विवक्षित हैं क्योंकि वे उपादेय हैं तथा इनमें आख्यातार्थ प्रधान है। जहां आख्यातार्थ प्रधान नहीं है अथवा लक्षणार्थ अथवा जात्यर्थ बोधित होता है वहां लिङ्ग व वचन अविवक्षित होंगे। शबरस्वामी का कथन है—

"प्रधानभूते आकृतिर्गुणो वा तत्सम्बन्धार्थमुच्यते।"[२]

प्रस्तुत उद्धरण में विवक्षितार्थ बोधित है। अर्थात् लिङ्ग व वचन प्रधान होने पर विवक्षितार्थ होता है। अविवक्षितार्थ के सम्बन्ध में शबरस्वामी का अभिप्राय है कि 'दर्शपूर्णमासाभ्याम् स्वर्गकामो यजेत' उद्धरण में पूर्वपक्षी 'स्वर्गकामः' से पुरुष अर्थ का ही ग्रहण करके आक्षेप करते हैं कि इन यागों का अधिकार पुरुष को ही है, क्योंकि 'स्वर्ग-कामः' पद पुल्लिङ्गवाची है—

'लिङ्गविशेषनिर्देशात्पुंयुक्तमैतिशायिनः।'[३]

शबरस्वामी 'स्वर्गकामः' पद का लक्षणार्थ करके इस प्रकार अर्थग्रहण करते हैं कि पुरुष व स्त्री दोनों ही यज्ञ के अधिकारी हैं। उनका अभिप्राय इस प्रकार है—

"न विवक्षितं पुल्लिङ्गमिति, कुतः, अविशेषातः।

स्वर्गे कामो यस्य तमेष लक्षयति शब्दः, तेन लक्षणेनाधिकृतो यजेतेतिशब्देनोच्यते। तत्र लक्षणमविशिष्टं स्त्रियो पुंसि च। तस्माच्छब्देनोभावपि स्त्रीपुंसावधिकृताविति गम्यते। तत्र केनाधिकारः स्त्रियानिवर्त्तते। विभक्त्येति चेत्। तत्र कस्मात् पुंस्त्ववचनात्स्त्री निवृत्तावशक्तिः।"[४]

---

१. शाबरभाष्य ९.१.३३
२. वही ६.२.२३
३. मीमांसासूत्र ६.१.६.
४. शाबरभाष्य ६.१.८

अतः उपर्युक्त मन्त्र से किसी विशिष्ट लक्षण का ग्रहण न होने के कारण स्त्री व पुंस दोनों का ही ग्रहण होगा।

उपर्युक्त विवरण को ध्यान में रखते हुये निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि मीमांसाचार्यों ने लिङ्ग-विषय का सूक्ष्म व गहन विवेचन प्रस्तुत किया। शबरस्वामी ने तो सूत्रों की व्याख्या करते हुये व्याकरण की सीमा का ध्यान रखते हुये, व्याकरण-तत्त्वों को दार्शनिक व भाषावैज्ञानिक रूप में संवारा तथा प्रस्तुत किया।

सांख्य दर्शन

सांख्य दर्शन के अनुसार लिङ्ग सत्त्व, रजस् तथा तमस्—गुणरूप में अभिहित होता है, ये सत्त्वादि गुण सभी पदार्थों में कम या अधिक मात्रा में विद्यमान रहते हैं। महाभाष्यकार ने स्वयं संस्त्यान व प्रवृत्ति की व्याख्या करते हुये सांख्य मत को ही अपनाया है—शब्द, स्पर्शादियुक्त तत्त्वों के गुणों-सत्त्वादि का संस्त्यान-ह्रास अथवा प्रवृत्ति-वृद्धि माना जाय—

"कस्य पुनः संस्त्यानं स्त्री, प्रवृत्तिर्वा पुमान्? गुणानाम, केषाम्? शब्दस्पर्शरूपरसगन्धानाम्।"[१]

सांख्य की सृष्टि प्रक्रिया के आधार पर महाभाष्यकार ने द्रव्य को गुणों से युक्त माना है—

"यदि तावद् गुणसमुदायो द्रव्यम्।"[२]

वाक्यपदीयकार ने लिङ्गसमुद्देश की प्रथम कारिका में 'गुणावस्था गुणास्तथा' पदद्वय उद्धृत किये हैं। यहां उन्होंने गुणावस्था से तात्पर्य सत्त्व, रजस् तथा तमस् की उपचय, अपचय तथा साम्यावस्था से ग्रहण किया है, कारिका स्पष्ट करती है—

'स्तनकेशादिसम्बन्धो विशिष्टा वा स्तनादय।
तदुपव्यञ्जना जातिर्गुणावस्था गुणास्तथा।'[३]

---

१. महाभाष्य ४.१.१.३. सूत्र
२. वही
३. वाक्यपदीय ३.१३.१

सांख्य सिद्धान्त है कि यह जगत्, प्रकृति से उद्भूत है और प्रकृति तीन गुणों—सत्त्व, रजस् तया तमस् से युक्त है। इन गुणों की साम्यावस्था होने पर वह अविकृत हो जाती है, अर्थात् उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता—

"सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था, सा अविकृतिः, प्रकृतिरेवेत्यर्थः।" [१]

सत्त्वगुण लघु व प्रकाशक होता है, रजोगुण उपष्टम्भक तथा चलायमान् होता है तथा तमोगुण गुरु रूप में पदार्थों में विद्यमान रहता है—

"सत्त्वं लघुप्रकाशकाभष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः
गुरुवरणकमेवतमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्ति।"[२]

ये तीनों गुण परस्पर विरुद्ध-स्वभाव होते हुये भी प्रदीपवत् विद्यमान रहते हैं। गौडपादाचार्य ने कहा है कि जिस प्रकार प्रदीप परस्पर तैल, वर्त्तिका तथा अग्नि के संयोग से प्रकाशवान् होता है, उसी प्रकार जगत् की सृष्टि इन विरुद्ध-स्वभाव वाले पदार्थों के संयोग से होती है।[३]

ये तीनों गुण अन्योन्याभिभव, अन्योन्याश्रय, अन्योन्यजनन, अन्योन्यमिथुनवृत्तियों से युक्त होते हैं।

"अन्योन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्चगुणाः।'[४]

गुणों का प्रत्यक्ष उनके पदार्थों के आधार पर ही किया जा सकता है। पञ्चतन्मात्रायें-शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध-गुणों का ही परिणाम हैं जो गुणों के समान ही परिवर्त्तनशील हैं और इन तन्मात्राओं से पञ्चमहाभूतों आकाशादि की उत्पत्ति हुयी है। अतः पञ्चमहाभूत भी त्रिगुणात्मक है। सांख्य दर्शन में प्रकृति को स्त्रीवाची तथा पुरुष को पुंवाची माना गया है। प्रकृति कैवल्यार्थ जगत् की सृष्टि करती है और यह कैवल्य नपुंसकत्व है—

'पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य
पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः।"[५]

---

१. सांख्यतत्वकौमुदी,३
२. सांख्यकारिका, १३
३. वही, १३, 'टीका'
४. वही 'टीका'
५. सांख्यकारिका, २१

निष्कर्ष रूप में यह माना जा सकता है कि नपुंसकत्व में पुंस्त्व तथा स्त्रीत्व दोनों की स्थिति है।

योगशास्त्र में लिङ्ग को महत् की संज्ञा दी गयी है—

'यत्तत्परमविशेषेभ्यो लिङ्गमात्रं महत्तत्त्वं तस्मिन्नेते सत्तामात्रे महत्यात्मन्यवस्थाय विवृद्धिकाष्ठामनुभवन्ति।"[१]

लिङ्गावस्था में पुरुषार्थ कारण होता है तथा अलिङ्गावस्था में पुरुषार्थ कारण नहीं होता है।[२] लिङ्गावस्था से यहां तात्पर्य सृष्टि-प्रक्रिया से है षडविशेषपदार्थ-शब्दादितन्मात्र तथा पुरुषार्थक्रियाक्षमासत्ता-लिङ्ग-महत्तत्व में लिङ्गावस्था से संयुक्त हो जाते हैं—

"लिङ्ग मात्रमलिङ्गस्य प्रत्यासन्नं तत्र तत्संसृष्टं विविच्यते क्रमावतिवृत्तोः तथा षडविशेष लिङ्गमात्रे संसृष्टा विविच्यन्ते।"[३]

अतः स्पष्ट है कि योगशास्त्र में लिङ्ग से तात्पर्य महत्, सत् से लिया गया है। लिङ्गावस्था महत् की सृष्टिप्रक्रिया बताई गयी है।

न्याय-वैशेषिक मत

नैयायिकाचार्यों के मत में लिङ्ग अर्थ-प्रत्यय व्याप्ति के आधार पर कराता है—

'व्याप्तिबलेनार्थगमकं लिङ्गम्" [४]

लिङ्ग व्याप्तिमत्व है और व्याप्तिमत्व के कारण वह अर्थ का ग्रहण कराता है, यथा-धूम अग्नि के साथ सदा व्याप्त रहता है। अतः जहां धूम होगा, वहां धूम के द्वारा अग्नि का अनुमान किया जा सकता है। अतः व्याप्ति के कारण धूम अग्नि का ग्रहण कराता है, धूम अग्नि का लिङ्ग है—

"तथाहि यत्र धूमस्तत्राग्निरिति साहचर्यनियमो व्याप्तिः तस्यां गृहोतायामेव धूमोऽग्निं गमयत्यतो व्याप्तिबलेना (ग्रय ?) नुमापकत्वाद् धूमोऽग्नेर्लिङ्गम्।'[५]

१. योगसूत्र, व्यासभाष्य २.१९
२. वही
३. तर्कभाषा, पृ० २६
४. तर्कभाषा, पृ. ३७
५. तर्कभाषा, पृ० ३७

जयन्तभट्ट ने स्पष्ट किया है कि जिसके द्वारा परोक्ष अर्थ का ज्ञान हो, ग्रहण हो, वह तत्त्व लिङ्ग है—

"तत्र परोक्षार्थो लिङ्ग्यते गम्यतेऽनेनेति लिङ्गम्।" [1]

नैयायिक ने लिङ्ग के पांच लक्षणों का परिगणन किया है, वे लक्षण हैं—पक्षधर्मत्व, सपक्षधर्मत्व विपक्ष से व्यावृत्ति, अबाधितविषयत्व तथा असत्प्रतिपक्षत्व।

इन पांच लक्षणों की विशेषतायें हैं—

१. पक्षधर्मत्व—साध्य होने योग्य धर्मविशिष्टधर्मीपक्ष का धर्मत्व पक्षधर्मत्व है।

२. सपक्षधर्मत्व—साध्यधर्म के योग से निर्ज्ञात धर्मान्तर सपक्ष है और उसका अस्तित्व सपक्षधर्मत्व है।

३. विपक्ष से व्यावृत्ति—साध्यधर्म के स्पर्श से रहित विपक्षधर्मी विपक्षधर्मी से व्यावृत्ति विपक्षव्यावृत्ति है।

४. अबाधितविषयत्व—अनुमेय अर्थ का प्रत्यक्ष से ग्रहण न होने पर अथवा उसका अग्रहण अबाधित विषयत्व है।

५. असत्प्रतिपक्षत्व—संशयबीजभूत अर्थ से प्रयुज्यमान अनुमान के द्वारा साध्य का ग्रहण न होना असत्प्रतिपक्षत्व है।[2]

अतः लिङ्ग अनुमान का ग्रहण इन पांच लक्षणों के द्वारा होता है। पदार्थ का अप्रत्यक्ष ज्ञान लिङ्ग के द्वारा ही नैयायिकों ने स्वीकार किया है।

वैशेषिक दर्शन के अनुसार जो तत्त्व अनुमेय के द्वारा ग्राह्य है तथा समानजाति में सामान्यरूप से सत् तथा तद्विपरीत में सर्वदा असत् रूप से रहता है वह तत्त्व लिङ्ग है—

"असिद्धोऽनपदेशः असन् सन्दिग्धश्चानपदेशः।"[3]

---

१. न्यायमञ्जरी, प्रमाणप्रकरणम्, पृ० १०१
२. न्यायमञ्जरी, प्रमाणप्रकरणम्, पृ० १०१
३. वैशेषिक सूत्र ३.१.१५, १६

प्रशस्तपादाचार्य ने व्याख्या इस प्रकार प्रस्तुत की है—

"यदनुमेयेन सहचरितं तत्समानजातीये च सर्वत्रासर्वत्र वा सामान्येन प्रसिद्धम् तद्विपरीते च सर्वस्मिन्नसदेव तत् लिङ्गम्"[१]

लिङ्ग का ग्रहण अनुमेय के द्वारा होता है तथा सामान्य रूप से तथा असामान्य रूप से समानजाति में तथा तद्विपरीत जाति में लिङ्ग रहता है। न्यायदर्शन के समान वैशेषिकाचार्य भी लिङ्ग को अनुमित मानते हैं, वे दृष्टान्त देते हैं कि धूम हेतु लिङ्ग के द्वारा वह्नि का ज्ञान होता है। डॉ० रामशरण शास्त्री ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

"अत्र धूमेन हेतुना - लिङ्गेन पर्वते पक्षे,
साध्यः =वह्निः, साध्यते = निश्चीयते।"[२]

वैशेषिकाचार्य ने लिङ्ग से तात्पर्य सामान्य रूप से प्रत्यायक चिह्न से भी ग्रहण किया है—

"निष्क्रमणं प्रवेशनमित्याकाशस्य लिङ्गम्।"[३]

आकाश की विद्यमानता का लिङ्ग निष्क्रमण व प्रवेशन है, अर्थात् आकाश का प्रत्यय कराने वाला निष्क्रमण व प्रवेशन है।

संयोग, समवाय तथा विरोधरूप में जो पदार्थ ज्ञान कराये, वह लैङ्गिक है—

'अस्येदंकार्यं, कारणं, संयोगि, विरोधि, समवायि चेति लैङ्गिकम्।'[४]

लैङ्गिक से आचार्य का तात्पर्य लिङ्ग द्वारा, प्रत्यायक चिह्न द्वारा ग्राह्य अनुमान से है।

वैशेषिक दर्शन के मत में लिङ्ग-जाति का ग्रहण किया जाता है। वाक्यपदीयकार ने अपने ग्रन्थ में वैशेषिकों के लिङ्ग सम्बन्धी मत को स्पष्ट किया है—

---

१. कणादसूत्रभाष्य, वही
२. पाणिनीय व्याकरणशास्त्रे वैशेषिक तत्त्वमीमांसा, पृ० २४२.
३. वैशेषिक सूत्र २.१.२०
४. वैशेषिकसूत्र ९.२.१

'स्तनकेशादि सम्बन्धो विशिष्टा वा स्तनादयः
तदुपव्यञ्जना जातिर्गुणावस्था गुणास्तथा।"[१]

तात्पर्य यह है कि लिङ्ग-स्त्री, पुंस तथा नपुंसक लिङ्ग 'तत्तद्गुणों से युक्त हुये तद्गत जाति का बोध कराते हैं, यथा-स्त्रीत्वविशिष्ट गुणों से युक्त लिङ्ग स्त्री जाति का बोध कराता है, उसी प्रकार पुल्लिङ्ग तथा नपुंसकलिङ्ग भी तत्तद् जाति का बोध कराते हैं, हेलाराज ने इस प्रकार अभिव्यक्त किया है—

"वैशेषिकाः सर्वत्राभिन्नाभिधानप्रत्ययोन्नीतसद्भावाज्जातिं मन्यन्ते इति स्तानाद्युपव्यञ्जनाभिव्यक्तविशेषस्त्रीत्वपुंस्त्वनपुंसकत्वरूपा लिङ्गजातिरित्याहुः। सा चाचेतनेषु अपि यथास्वमुपव्यञ्जनाभिव्यक्ता विद्यत एवेति वक्ष्यते।'[२]

वही लिङ्ग जाति अचेतनों में भी उसी प्रकार से रहती है। जाति का ग्रहण सर्वथा किया गया है। वैशेषिक मतानुसार जो पदार्थ समस्त लिङ्गों से अभिव्यक्त नहीं होते, उनकी भी जाति का ग्रहण हो जाता है, यथा—ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि का ग्रहण लिङ्ग से न होने पर उनकी ब्राह्मणत्वादि जाति का ग्रहण सिद्ध हो जाता है, डॉ० रामशरण शास्त्री ने इस प्रकार अभिव्यक्त किया है—

'ये सर्वाणि लिङ्गानि स्त्रीपुंक्लीवरूपाणि न गृहणन्ति, तेऽपि जातिमन्तो भवन्ति.............[३]

अतः इन तीनों लिङ्गों के अतिरिक्त एक अन्य लिङ्ग का ग्रहण क़िया गया है और वह है सामान्यत्व जाति-लिङ्गजाति।

अतः स्पष्ट है कि न्यायवैशेषिकाचार्यों ने लिङ्ग से तात्पर्य उस तत्त्व से लिया है जिसके द्वारा परोक्ष अर्थ का ज्ञान होता है। अप्रत्यक्ष ज्ञान में लिङ्ग का ग्रहण होता है, तात्पर्य यह है कि जो तत्त्व इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं है, प्रत्यक्ष नहीं है, उसका अनुमान किया जाता है और अनुमान लिङ्ग के आधार पर होगा।'

---

१. वाक्यपदीय ३.३१.१.
२. वही ३.१३.१ 'टीका'
३. पाणिनीयव्याकरणशास्त्रे वैशेषिक तत्त्व मीमांसा, पृ० १९३.

वेदान्त दर्शन के अनुसार लिङ्ग

सायणाचार्य ने लिङ्ग के सम्बन्ध में वेदान्त दर्शन की कारिका उद्धृत की है—

'उपक्रमोपसंहारावभ्यासो पूर्वता फलम्,
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये।"

लिङ्गार्थग्रहण में उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अर्थवाद तथा उपपत्ति का योग रहता है। यह सत् सदा विद्यमान था-यह ज्ञान उपक्रम है। यह समस्त जगत् उस सत् से युक्त है, अतः वह आत्मा सत्य है और वही आत्मा तुम हो- यह धारणा उपसंहार है। उस ब्रह्म तथा आत्मा का ऐक्य होने से एकलिङ्गत्व सिद्ध हो जाता है तथा बार-बार यह धारणा कि वह सत् ब्रह्म तुम ही हो-अभ्यास कहलाता है। सृष्टि, स्थिति, प्रलय, प्रवेश तथा नियमन ये पांच अर्थवाद हैं तथा एक मृद्पिण्ड से समस्त मृद्पिण्डों का ज्ञान हो जाता है यह युक्ति उपपत्ति है—

'तत्र सदेव साम्येदमग्र आसीदित्युपक्रमः ऐतदात्म्यमिदं सर्वतत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इत्युपसंहारः। तयोः ब्रह्म विषयत्वेनैक्यरूप्यमेकलिङ्गम्। असकृत् तत्त्वमसीत्युक्तिरभ्यासः।-----

सृष्टिस्थितिप्रलयप्रवेशनियमनानि पञ्चार्थवादाः। मृदादिदृष्टान्ता उपपत्तयः।'[१]

इन्हीं लिङ्गों के आधार पर वेदान्ताचार्यों का शुद्ध बुद्धयुक्त स्वभाव ब्रह्म का आत्म तत्त्व निश्चित होता है।[२] वेदान्त-दर्शन में सूक्ष्म शरीरों को लिङ्ग शरीर की संज्ञा दी गयी है, सूक्ष्म शरीरों का विवरण इस प्रकार से दिया गया है—

'सूक्ष्मशरीराणि सप्तदशावयवानि लिङ्गशरीराणि। अवयवास्तु ज्ञानेन्द्रिय पञ्चकं बुद्धिमनसी कर्मेन्द्रियपञ्चकं वायुपञ्चकं चेति, ज्ञानेन्द्रियाणि श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाप्राणाख्यानि। एतान्याकाशादीनां सात्त्विकांशेभ्यो व्यस्तेभ्यो पृथक्-पृथक् क्रमेणोत्पद्यन्ते।"[३]

---

१. सर्वदर्शनसङ्ग्रह, पृ० ४०६
२. वही
३. वेदान्तसार, पृ० १३६

ये सूक्ष्म शरीर संख्या में सत्रह हैं—पञ्च ज्ञानेन्द्रियां, बुद्धि व मन, पञ्च कर्मेन्द्रियां तथा पञ्च वायु।

अतः स्पष्ट है कि वेदान्त मत में लिङ्ग को सूक्ष्म शरीर के रूप में स्वीकार किया गया है। सूक्ष्म शरीर का प्रत्यक्ष नहीं होता, अतः उसे लिङ्ग शरीर कहा गया है, वह अनुमेय है।

'लिङ्ग्यते ज्ञाप्यते प्रत्यगात्मसद्भाव एभिरिति लिङ्गानि तानि च तानि शरीराणि च शरीरप्रतिष्ठत्वाच्छरीरसाधनत्वाद्वा धर्मादिद्वारेणेति लिङ्गशरीराणीत्यर्थ।"[१]

आधुनिक विद्वानों का लिङ्ग-सम्बन्धी मत

विभिन्न व्याकरण तथा दार्शनिक विचारों का अध्ययन करने पर लिङ्ग का लौकिक व सामान्य अर्थ ग्रहण किया जाता है—प्रत्यायक चिह्न पदार्थों में भेद करता है। यह भेद उन पदार्थों की कतिपय मुख्य विशेषताओं के आधार पर किया गया जो उन पदार्थों की एक जाति को, समूह को दूसरी भिन्न प्रत्यायक-चिह्न वाली विशेषताओं से युक्त जाति से पृथक् करता है। यह लिङ्ग-भेद, लिङ्ग-निरूपण अनादि काल से चला आ रहा है। लोकप्रयोग में आने वाले पदार्थों का अवलोकन करके उसके आधार पर तत्सम्बन्धी शब्दों का लिङ्ग-निर्धारण स्वतः हो गया, उस प्रयोग के आधार पर पुनः लिङ्ग-निर्धारण सम्बन्धी नियमों की रचना की गयी।

प्रसिद्ध भाषा-वैज्ञानिक जैस्पर्सन का मत लिङ्ग के विषय में निम्न प्रकार से उद्धृत है—

"By the term gender is here meant any grammatical class division presenting same analogy to the distinction in Aryan languages between maseuline, feminine and neuter, whether the division is based on the natural division into the two sexes or on that between animate and inanimate or on something else."[2]

---

१. वेदान्तसार, पृ० १३६

२. The Philosophy of Grammar, p.226

अत: लिङ्ग-विभाजन विद्वानों तथा भाषाविदों में स्त्री-पुरुष के आधार पर किया जाता है तथा सजीव-निर्जीव पदार्थों के आधार पर भी लिङ्ग-निर्धारण विद्वानों में मान्य रहा है। संस्कृत वैयाकरणों ने लिङ्ग-निर्धारण करते हुये अनेक शब्दों की सूची प्रस्तुत की, जिनको लिङ्ग के आधार पर विभाजित किया गया, परिणामतः पुंवाची प्रत्यय स्त्री प्रत्यय टाबादि से भिन्न हैं तथा नपुंसकलिङ्ग-बोधक प्रत्यय इन दोनों प्रकार के प्रत्ययों से भिन्न हैं।

प्रसिद्ध विद्वान् बरो के मत में प्राचीन काल में दो ही लिङ्ग प्रयोग में आते थे—नपुंसक लिङ्ग तथा सामान्य लिङ्ग। इस सामान्य लिङ्ग से ही श्री बरो ने स्त्री व पुल्लिङ्ग का विकास माना है—

"In the earliest period the three-fold classification did not exist. There was no feminine and nouns were divided into two types - 'neuters' and 'common genders' the latter so called because the masculine and feminine developed out of it."[1]

श्री बरो ने पुल्लिङ्ग तथा नपुंसकलिङ्ग बोधक प्रत्ययों के आधार पर ऐसे शब्दों की सूची प्रस्तुत की है जो प्राचीन काल में लिङ्ग के आधार पर निश्चित किये गये थे। उनका मत है कि र् तथा न्-दोनों ही प्रत्ययों से नपुंसक लिङ्ग का बोध होता है, यथा—अहर् तथा अह्नस्-दिन'[२] कुछ इस प्रकार के पुल्लिङ्गवाची शब्दों का विवरण भी दिया गया है, जो अपने अर्थ के कारण नपुंसकवाची कार्यसंज्ञाओं की श्रेणी में आते हैं, यथा—अन् प्रत्यय से अन्त होने वाले शब्द मूर्धन्, आत्मन्, अस्मन्, भ्रमन् आदि।'[३] ये शब्द पुल्लिङ्गवाची हैं तथापि तत्सम्बन्धी अर्थों के आधार पर नपुंसकलिङ्ग में उनका ग्रहण किया गया है।

भौगोलिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों के भिन्न होने पर भी भाषाविज्ञान सम्बन्धी कुछ नियम ऐसे हैं जो सर्वत्र अपनाये जाते हैं। ये नियम प्रयोगों के आधार पर ही निश्चित किये जाते हैं। लिङ्ग निर्धारण के सम्बन्ध में

१. Sanskrit Language, p.121.
२. Ibid p.126
३. Ibid p.133

भाषा-वैज्ञानिकों का मत है कि सामान्यतया एक ही अर्थ वाले शब्दों का लिङ्ग एक ही होता है। श्री जैस्पर्सन उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत करते हैं कि जर्मन भाषा का Die Mittwoche, जो स्त्रीलिङ्गवाची है (जो हिन्दी के बुधवार का प्रत्यायक है), Der Tage पुल्लिङ्गवाची शब्द (दिन) के संसर्ग से Der Mittwoch हो गया, उसी प्रकार सप्ताह के अन्य दिनों के नाम भी पुल्लिङ्गवाची हो गये।[१]

संस्कृत व्याकरण में लिङ्ग भेद सजीव तथा निर्जीव पदार्थों के आधार पर नहीं किया गया। तात्पर्य यह है कि यह आवश्यक नहीं कि निर्जीव वस्तुओं को नपुंसकलिङ्ग से ही प्रत्यापित किया जाय, अन्यथा 'खट्वा' तथा 'वृक्ष' के सन्दर्भ में इतना वाद न हुआ होता। 'खट्वा' में स्त्रीवाची प्रत्यय 'टाप्' का प्रयोग किया गया है तथा 'वृक्ष' को पुल्लिङ्ग के समान व्यवहृत किया गया है, किन्तु अन्य भाषाओं में पुल्लिङ्ग तथा नपुंसकलिङ्ग के निर्धारण में भेद किया गया है। वहां जीव सामान्यतया नपुंसकलिङ्ग में परिगणित नहीं होते तथा निर्जीव वस्तुयें सजीवों की अपेक्षा निम्न कोटि में मानी जाती हैं, अत: उनके साथ नपुंसकलिङ्ग का ही प्रयोग होता है।[२]

आधुनिक भाषाविदों का मत है कि लिङ्गों का जो सामान्य लक्षण लोक में प्रचलित है, उससे भिन्न भी पदार्थों के रूप देखने में आते हैं। ये लिङ्गवाची परिभाषायें पूर्णत: अपने-अपने वाची लिङ्गों का ज्ञान नहीं कराती हैं। स्पष्ट है कि आधुनिक भाषाशास्त्रियों ने परम्परागत लिङ्ग अर्थ से भिन्न भी लिङ्ग-प्रत्यय को स्वीकार किया है। अथवा लिङ्ग विशेष से रुढ़िगत अर्थ के अतिरिक्त अर्थ भी बोधित होता है।

भाषाविदों का मत है कि लोक-प्रयोग के आधार पर शब्दों के लिङ्गों का निर्धारण होता है तथा उन प्रयोगों का अवलोकन करके अन्य अनेक सम्भाव्य प्रयोगों के लिये नियमों की रचना कर दी जाती है। लिङ्ग तत्त्व चूंकि भाषा में प्रयोग में आने वाला सशक्त तत्त्व है, जिसके बिना पदार्थों

---

१. The Philosophy of Grammar, p.229
२. The Philosophy of Grammar, p.239.

का सही ज्ञान असम्भव है, अतः लिङ्ग-तत्त्व का व्याकरण दृष्टि से जो परम्परागत अध्ययन किया गया है, उसके अतिरिक्त भाषाविज्ञान में भी व्याकरण का अनुकरण करते हुये लिङ्ग प्रयोग सम्बन्धी अनेक विशेषताओं का अध्ययन किया गया है। वाक्यशास्त्र में लिङ्ग का विधान व्याकरण के ही द्वारा होता है, व्याकरण लिङ्ग-निश्चय लौकिक-प्रयोग के आधार पर करता है। संस्कृत भाषा में तो लिङ्ग का निरूपण परम्परागत रूप में किया गया है, किन्तु लिङ्ग-प्रयोग का विकास भाषाविज्ञान में होता हुआ दृष्टिगत होता है।

लिङ्ग सम्बन्धी भाषाशास्त्रीय विवेचन दार्शनिक विवेचनों से पूर्णतया भिन्न है। भाषाविज्ञान में लोकप्रयोग तथा व्याकरण के आधार पर लिङ्ग का निरूपण किया गया है, जबकि दर्शन-सम्प्रदायों में दार्शनिक रूप में, मानसिक धरातल पर लिङ्ग को स्वीकार किया गया है तथा लिङ्ग को अनेक रूपों में प्रस्तुत किया गया है।

उपसंहार

व्याकरण-दर्शन के जिन विभिन्न तत्त्वों का विवेचन व्याकरण में उपलब्ध होता है, उनकी एक विस्तृत परम्परा वैदिक काल से लेकर आधुनिक काल तक उपलब्ध होती है। शब्द के स्वरूप के सन्दर्भ में महाभाष्यकार की मान्यता है कि अर्थप्रत्यायक ध्वनि शब्द है, जिसकी अवस्थिति बुद्धि है तथा जो श्रोत्र के द्वारा ग्राह्य होता है, शब्द स्फोट तथा ध्वनि के रूप में उपस्थित रहता है तथा ध्वनि स्फोट का गुण है, ध्वनि के द्वारा ही वह ग्राह्य है। मीमांसकों ने शब्द से जाति, गुण, क्रिया, द्रव्य चारों ही अर्थ स्वीकार किये हैं, जोकि महाभाष्यकार के अधोलिखित विवरण से संकेतित होता है—

'किं यत्तत्सास्ना---आकृतिनार्म सा।'

नैयायिकों का द्रव्यवाद, वैशेषिकों का सामान्य विशेषवाद भी उपर्युक्त शब्द की विभिन्न मान्यताओं में परिलक्षित होता है। आचार्य पाणिनि ने पदार्थ दोनों जाति तथा व्यक्ति ही ग्रहण किया है। पदार्थ को जाति मानकर पाणिनि ने सूत्र रचना की—

'जात्याख्यायामेकस्मिन्बहुवचनमन्यतरस्याम्।'

अर्थात् पद में जातिग्रहण से एक वचन का ग्रहण किया है—यथा—ब्राह्मण: पूज्य:—यहां ब्राह्मण से आचार्य ने तात्पर्य ब्राह्मण जाति से लिया है। पदार्थ को व्यक्ति मान कर भी पाणिनि ने सूत्र रचना की है—

'सरूपणामेकशेषएकविभक्तौ।'

तात्पर्य यह है कि उन्होंने समानार्थक शब्दों में एक शब्द शेष माना है—यथा—घटश्च घटश्च—दो घटों के उक्त होने पर एक घट शेष रह जाता है—'घटौ'। अत: परमब्रह्म क़ा ग्रहण वैयाकरण जाति-गोत्व तथा द्रव्य-गो-दोनों में ही करते हैं। व्याडि तथा वाजप्यायन का द्रव्य-आकृतिवाद भेद तथा संसर्ग पर आश्रित है। पदार्थ को द्रव्यार्थ मानने पर द्रव्यवादी आचार्यों का

मुख्य अभिप्रेत था पदार्थ को तद्जाति-गोत्वादि में ग्रहण करने की अपेक्षाकृत अन्य पृथक् पदार्थों-अश्वादि से पृथक् करना। वाजप्यायन के अनुसार पदार्थ का जाति अर्थ लेने पर शब्द से गुणों का ग्रहण होता है। जो तत्सम्बन्धी अन्य पदार्थों में भी समान रूप से विद्यमान रहता है। किन्तु दोनों ही सम्प्रदाय अन्य मत को अमान्य नहीं मानते। कैयट का कथन प्रस्तुत संदर्भ में उद्धृत करना समीचीन है —

'तत्र भेदाः संसर्गाविनाभाविनाभावित्वात् अनुमीयमान-संसर्गः सामथ्र्य संसर्गो वा भेदाविनाभाव्यनुमेय-भेदः।'[1]

द्रव्य को पारमार्थिक दृष्टिकोण से विवेचित करते हुये भर्तृहरि द्रव्य के विषय में उद्घोष करते हैं कि आत्मा, वस्तु, स्वभाव, शरीर, तथा तत्त्व ये द्रव्य के ही पर्याय हैं, अतः द्रव्य नित्य सिद्ध होता है।

महाभाष्यकार आकृति तथा द्रव्य—दोनों को ही पदार्थ स्वीकार करते हुये शब्दार्थ-सम्बन्ध को नित्य मानते हैं। पदार्थ के द्रव्यार्थ मानने पर भी द्रव्य वही रहता है, उसकी आकृति (स्वरूप) बदलती रहती है तथा जब वे पदार्थ आकृति में ग्रहण करते हैं तब भी उनके अनुसार आकृति नित्य रहती है, द्रव्य अनित्य है— **'न क्वचिदुपरतेति कृत्वा सर्वत्रोपरता भवति द्रव्यान्तरस्था तूपलभ्यते।'[2]**

मीमांसकों के मत में एक शब्द भिन्न-भिन्न सन्दर्भ में भिन्न-भिन्न अर्थ-ग्रहण करा सकता है।[3] शब्द में समय-समय पर जाति, द्रव्य, गुण तथा क्रिया के भिन्नार्थ ग्रहण होते हैं।

नैनायिक शब्द को नित्य नहीं मानते हैं। शब्द उच्चरित होने के साथ समाप्त हो जाता है। पदार्थ को निश्चित करने के लिये नैयायिकों ने शब्दप्रमाण को मान्यता दी है—जो आप्त वाक्य तथा आगम पर आधारित होता है। वैशेषिकाचार्यों ने शब्द को आकाश का गुण माना है, जिसकी उत्पत्ति, मनस्, कालादि द्रव्यों के सहयोग से होती है। यह शब्द-तत्त्व नित्य

---

१. महाभाष्य २.१.१. 'प्रदीप'
२. वही १.१.१. पस्पशाह्निक
३. सर्वदर्शनसङ्ग्रह-पाणिनिदर्शन, पृ० ३०१

तत्व है, क्योंकि नित्य पदार्थों के संयोग से उद्भूत हुआ है यथा आकाश नित्य है। प्रकृति के सृष्टि-प्रक्रम में ही सांख्याचार्य शब्द की उत्पत्ति मानते हैं जो आकाश का गुण है, जिसमें सत्त्व, रजस्, तथा तमस् तीनों गुण विद्यमान रहते हैं। सांख्याचार्यों ने शब्द-प्रक्रिया को व्यक्त तथा अव्यक्त के मध्य हुआ सम्बन्ध माना है। द्रव्य में अन्य पदार्थों—अश्वादि की व्यावृत्ति बौद्धाचार्यों का 'अपोहवाद' है, यह वाद वैयाकरणों के शब्दनित्यवाद के विपरीत है। स्याद्वाद, अनेकान्तवाद के प्रवर्त्तक जैनाचार्यों के मत में एक शब्द अनेक अर्थों का बोध करा सकता है।

जाति तथा व्यक्ति का समन्वयवाद, भेद तथा संसर्ग का अन्योन्याश्रय भाव, आकृति तथा द्रव्य का परस्पर सापेक्ष्यभाव अद्वैत वेदान्त के दर्शन से बहुत अधिक साम्य रखता है।

काल उस शब्द ब्रह्म की ही शक्ति है जिसके द्वारा पदार्थ में परिवर्तन होता है, जगत् की क्रियाओं का सञ्चालन होता है, महाभाष्यकार ने काल के विभिन्न स्वरूपों को प्रस्तुत करते हुये लोक जीवन में काल के महत्व को स्पष्ट किया है। षड्भावपदार्थ काल के द्वारा ही परिवर्तित होते रहते हैं। काल नित्य है अतः काल की भूत-भविष्यत् सत्ताओं के विषय में संशय होता है, किन्तु वर्तमान काल ही भूत तथा भविष्यत् रूपों में लोक जीवन में परिलक्षित होता है। वैदिक काल में काल को ईश्वरीय शक्ति सर्वशक्तिमान् माना है। स्पष्ट होता है कि सृष्टि के आदिकाल से ऋषियों ने काल के माहात्म्य को स्वीकार किया है, उसकी अर्चना की है, क्योंकि काल—'कालः कालयति' अर्थ को परिलक्षित करता है। जैन सम्प्रदाय काल के अस्तित्व के विषय में द्विमत हैं—श्वेताम्बर सम्प्रदाय के आचार्य काल के अस्तित्त्व को नहीं मानते तथा दिगम्बराचार्य काल की सत्ता को स्वीकार करते हैं। बौद्धाचार्य काल को बौद्धिक अनुभूति के अतिरिक्त कुछ नहीं मानते। उनके अनुसार काल पदार्थों, क्रियाओं के आधार पर विभिन्न बौद्धिक स्वरूप धारण कर लेता है, अर्थात् वे बाह्य रूप में काल की सत्ता स्वीकार नहीं करते हैं, किन्तु वैभाषिक सम्प्रदाय के आचार्य काल की सत्ता को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार काल तीनों रूपों—भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान, में उपस्थित रहता है।

संस्त्यान, प्रसव तथा साम्यावस्था के आधार पर महाभाष्यकार ने लिङ्ग-तत्त्व का विवेचन किया, जिसके आधार पर जागतिक पदार्थों का विभाजन किया गया है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध गुणों का आविर्भाव, तिरोभाव तथा स्थिति ही संस्त्यान, प्रसव तथा साम्य को निर्धारित करता है, जोकि सांख्याचार्यों के सत्त्वादिगुणों से भी साम्य रखता है। इन गुणों के संयुक्त होने पर प्रवृत्ति तथा ह्रास होता है तथा गुणों के साम्य होने पर प्रकृति अविकृत रहती है, कोई परिवर्तन नहीं होता।न्याय-वैशेषिकाचार्य लिङ्ग को अनुमेय मानते हैं, उनके अनुसार लिङ्ग की व्याप्ति के आधार पर पदार्थ ज्ञान होता है, यथा धूम से अग्नि का ग्रहण।

व्याकरण-दर्शन के विभिन्न तत्त्वों का अवलोकन-अध्ययन करने से स्पष्ट होता है कि वैयाकरण इन तत्त्वों को सामान्यतया ब्रह्म की शक्ति के रूप में स्वीकार करते हैं। स्फोट तथा ब्रह्म-तत्त्व को उन्होंने एक माना है तथा स्फोट और ब्रह्म-तत्त्व जीव तथा परमात्मा के रूप में ऐक्य भाव को प्राप्त किये रहते हैं जो पुनः अद्वैतवेदान्तियों के दर्शन से साम्य रखता है। जिस प्रकार अन्य दर्शन सम्प्रदाय प्राणी को बन्धन मुक्त कर देते हैं, मोक्ष प्राप्ति करा देते हैं, उसी प्रकार व्याकरण भी अभ्युदय निःश्रेयस् का कारण बनता है—'यतो अभ्युदयनिःश्रेयस् प्राप्ति।' शब्दब्रह्म का भली-भांति ज्ञान हो जाने पर साधक परमब्रह्म की प्राप्ति कर लेता है। स्पष्ट है कि संस्कृत व्याकरण अपने आप में एक दर्शन समाहित किये हुए हैं, जिसका स्पष्ट परिलक्षण महाभाष्य में हो जाता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

मुख्य-ग्रन्थ

अथर्ववेद — स्वाध्याय मण्डल (औंध) जिला सतारा, १९२७

अथर्ववेदसंहिता — चौखम्बा ओरियन्टालिया, वाराणसी, १९७७

अद्वैतसिद्धि — मधुसूदन सरस्वती, निर्णय सागर प्रेस, एडीशन, काशी, १९१७

अष्टाध्यायी ऑफ पाणिनि — श्रीश चन्द्र वासु, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, १९७७

ऐतरेय ब्राह्मण (प्रथम प्रपाठक) — डॉ०. सुधाकर मालवीय, तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी, १९८०

काव्यप्रकाश — मम्मट, डॉ० श्रीनिवास शास्त्री द्वारा सम्पादित, साहित्य भण्डार, मेरठ, १९७०

काव्य-प्रकाश — मम्मट, सम्पादित-एस० सुखतनकर, दि बाम्बे बुक डिपो, गिरगांव, बाम्बे, १९३३

काव्य-मीमांसा — राजशेखर, बड़ौदा ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, १९३४

काशिका — वामन-जयादित्य, चौखम्भा संस्कृत पुस्तकालय, बनारस, १९५२

काशिकावृत्ति — वामन-जयादित्य (जिनेन्द्र बुद्धि कृत न्यास तथा हरदत्त मिश्र विरचित पदमञ्जरी) प्राच्य भारती प्रकाशन, वाराणसी १९६५

गौतम सूत्रवृत्ति — वात्स्यायन, इण्डियन स्टडीज, कलकत्ता, १९८२

तत्त्वचिन्तामणि — गंगेश उपाध्याय, बिब्लियोथेका इण्डिका, ९८ कलकत्ता, १८९२-१९०१

तत्त्वत्रय — मुन्शीराम मनोहरलाल, दिल्ली, १९७३

तत्त्वबिन्दु — वाचस्पति मिश्र, अण्णामलयै विश्वविद्यालय, संस्करण-३, अण्णामलयैनगर, १९३६

तत्त्वसङ्ग्रह — शान्तरक्षित (कमलशीलकृत पञ्जिका), गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज ३०१, बड़ौदा, १९२६

तन्त्ररहस्य — रामानुजाचार्य, गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज नं० बड़ौदा, १९५६

तर्कभाषा — केशव मिश्र (चिन्तामणि कृत व्याख्या), बाम्बे संस्कृत एण्ड प्राकृत सीरीज भण्डारकर ओरियटल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, १९३७

तर्करहस्यदीपिका — गुणरत्नसूरि, एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बेन्गाल, १९०५

तैत्तिरीय ब्राह्मण — (आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावलि, ग्रन्थाङ्क ३७), पूना, १९७९

तैत्तिरीय संहिता — पारडी नगर (सूरत प्रदेश), बम्बई १९५७

निरुक्त — यास्क, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, १९६६

निरुक्त — यास्क (दुर्गसिंह कृत टीका), मेहरचन्द लक्ष्मणदास, दरियागंज, नई दिल्ली, १९६४

न्यायदर्शन — गौतम मुनि (वात्स्यायनभाष्य),चौखम्भा संस्कृत सीरीज, बनारस, १९४२

न्यायभाष्य — वात्स्यायन, बौद्ध भारती, वाराणसी, १९७६

न्यायमञ्जरी — जयन्तभट्ट, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९३६

न्यायवार्त्तिक — उद्योतकर, बिब्लियोथेका इंण्डिका ११३, कलकत्ता, १८८७-१९१४

पदमञ्जरी — हरदत्त, पण्डित सीरीज, बनारस, १८९२-९९

परिभाषेन्दुशेखर — नागेशभट्ट, काशी संस्कृत ग्रन्थमाला १५७, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, १९४३

पाणिनीय शिक्षा, सम्पादित — मनमोहन घोष, कलकत्ता, १९२८

पातञ्जलयोगसूत्राणि (वाचस्पति मिश्र टीका तथा व्यासभाष्य), आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावलि, ग्रन्थाङ्क -४७, पूना, १९३२

पराशर संहिता भाष्य — बाम्बे संस्कृत सीरीज, बाम्बे

प्रमाण मीमांसा — हेमचन्द्र, सिन्धी जैन ग्रन्थ-माला, अहमदाबाद, १९३९

प्रमाणवार्त्तिक — धर्मकीर्ति, दी जर्नल आफ बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, पटना, १८३८-४०

प्रमेयकमलमार्त्तण्ड — प्रभाचन्द्र, दरियागंज, दिल्ली, १९७२

बृहच्छब्देन्दुशेखर — नागेशभट्ट, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९६०

बृहद्देवता — शौनक, हारवर्ड ओरियन्टल सीरीज, -५, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९०४

भगवद्गीता — (शङ्करानन्दी व्याख्या सहित), निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९२६

मनुस्मृति — मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६६

महाभाष्य — पतञ्जलि, भाग १,२,३,४, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६७

महाभाष्य — (भाग २,३,), एफ० कीलहार्न द्वारा सम्पादित, भण्डार ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, १९६५, १९७२

महाभाष्य	(तृतीय भाग, द्वितीय अध्याय) (युधिष्ठिर मीमांसक-व्याख्या), दिल्ली, सम्वत् २०३१
महाभाष्य-दीपिका	भर्तृहरि (के०वी० अभ्यंकर तथा वी०पी० लिमये द्वारा सम्पादित), पूना, १९६४-७१
महाभाष्यप्रदीप	कैयट, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९०८-१२
महाभाष्यप्रदीपोद्योत	नागेश भट्ट, कलकत्ता, शकाब्दी १८३१
मानमेयोदय	नारायण भट्ट, थिओसोफिकल पब्लिशिंग हाउस, आधार, मद्रास, १९३३
मानसोल्लस	सम्पादित - महादेवन शास्त्री, मद्रास, १९२०
मीमांसा	(शाबरभाष्य) (युधिष्ठिर मीमांसक - व्याख्या), बहालगढ़ (सोनीपत - हरियाणा), १९७८
मीमांसा-दर्शन	जैमिनि (कुमारिलभट्ट कृत व्याख्या), आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावलि, ग्रन्थाङ्क १७, आनन्दाश्रम, पूना, १९७३
मैत्रायणी संहिता	सम्पादित - लिओपोल्ड फान श्रोएडेर,फ्रान्त्स श्टाइनेर फेलार्ग, जी एम बीसच, वीस्वाडेन, जर्मनी, १९७२
यजुर्वेद (दयानन्दभाष्य)	तृतीय भाग - आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली १९७४
युक्तिदीपिका	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली १९६७
योगवाशिष्ठ	वाल्मीकि, लखनऊ, १९७५
ऋग्वेद	विश्वेश्वरानन्द इण्डोलाजिकल सीरीज, विश्वेश्वरानन्द संस्थान, होशियारपुर,
ऋग्वेदसंहिता (सायणभाष्य),	मोतीलाल बनारसीदास, ओरियन्टल पब्लिशर्स, लाहौर, १९४०
लघुशब्देन्दुशेखर	नागेशभट्ट, गई घाट, बनारस, १९३६

लघुसिद्धान्तकौमुदी वरदराज, दिल्ली १९७१

लिङ्गानुशासन दुर्गसिंह, दकन कालेज पोस्टग्रेजुएट रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, १९५२

वाक्यपदीय भर्तृहरि, के०वी० अभ्यंकर तथा वी०पी० लिमये द्वारा सम्पादित, यूनिवर्सिटी आफ पूना संस्कृत एण्ड प्राकृत सीरीज, पूना, १९६५

वाक्यपदीय भर्तृहरि (प्रथम काण्ड), हरि वृत्ति तथा वृषभदेव-टीका के०ए० सुब्रह्मण्य अय्यर द्वारा सम्पादित, दकन कालिज पोस्ट ग्रेजुएट रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना, १९६६

वाक्यपदीय भर्तृहरि, के० भगवान पिल्लई द्वारा सम्पादित, मोतीलाल बनारसीदास, पटना, १९७१

वाक्यपदीय (ब्रह्म काण्ड) भर्तृहरि, श्री सूर्यनारायण शुक्ला तथा श्री रुद्रप्रसाद अवस्थी द्वारा सम्पादित, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, सम्वत् २०३७

वाक्यपदीय (काण्ड ३, भाग १) हेलाराज टीका, के० ए० सुब्रह्मण्य अय्यर द्वारा सम्पादित, दकन कालेज पोस्ट ग्रेजुएट एण्ड रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, १९६३

वाक्यपदीय भर्तृहरि (काण्ड ३, भाग २), हेलाराज-टीका, पं० रघुनाथ शर्मा कृत व्याख्या, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९७९

वाक्यपदीय (सम्बन्ध समुद्देश), डॉ० वीरेन्द्र शर्मा, विश्वेश्वरानन्द विश्वबन्धु इन्स्टीट्यूट आफ संस्कृत एण्ड इण्डोलोजिकल सीरीज, पंजाब यूनिवर्सिटी, १९७७

वाक्यपदीय (काल समुद्देश), डॉ० सर्वेश्वर शर्मा पेरि, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली

विष्णु पुराण	संस्कृत संस्थान, ख्वाजा कुतुब (वेद नगर), बरेली, १९६९
वेदान्त परिभाषा	धर्मराजाध्वरीन्द्र, आद्यार लाइब्रेरी सीरीज-३४, मद्रास, १९४२
वेदान्तसार	सदानन्द, श्री वाणी विलास प्रेस, श्रीरंगम्, १९११
वेदान्तसूत्र	बादरायण, ओरियन्टल बुक्स रिप्रिन्ट कार्पोरेशन, देहली, १९७९
वैयाकरणभूषणसार	कौण्डभट्ट, गवर्नमेंन्ट सेन्ट्रल प्रेस, बम्बई, १९१५
वैयाकरणभूषणसार सिद्धान्तलघुमञ्जूषा	नागेश भट्ट, चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, १९१७
वैयाकरणसिद्धान्त कौमुदी	भट्टोजिदीक्षित, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, १९८२
वैशेषिक सूत्र	कणाद (भाष्य सहित), काशी संस्कृत सीरीज-३, बनारस, १९३२
शतपथ ब्राह्मण	दि रिसर्च इन्स्टीट्यूट आफ एन्शियेन्ट साइन्टिफिक स्टडीज, देहली
शब्दकौस्तुभ	भट्टोजिदीक्षित, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, बनारस, १९३३
शारीरकभाष्य	निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९३४
शास्त्रप्रदीपिका	डॉ० गौनाथ शास्त्री द्वारा सम्पादित, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९८३
श्लोकवार्त्तिक	कुमारिलभट्ट (पार्थसारथि मिश्र कृत टीका), तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी, १९७८
षड्दर्शनसमुच्चय	श्री हरिभद्र सूरि, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, कलकत्ता, १९७०

सर्वदर्शनसङ्ग्रह	सायण माधव, वासुदेव शास्त्री अभ्यंकर द्वारा सम्पादित, भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, १९२४
सांख्यकारिका	ईश्वरकृष्ण, दि ओरियन्टल बुक एजेन्सी, पूना, १९३३
सांख्यतत्वकौमुदी	वाचस्पति मिश्र, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९७६
सांख्यदर्शन	कपिल मुनि (विज्ञान भिक्षु कृत भाष्य,) कलकत्ता, १९३६
सांख्यप्रवचनभाष्य	विज्ञानभिक्षु, चौखम्भा संस्कृत सीरीज ग्रन्थ-६७, काशी, १९२८
सिद्धान्तचन्द्रोदय	श्रीकृष्ण धूर्जटित
सिद्धान्तमुक्तावली	विश्वेश्वरनाथ पञ्चानन टीका पं श्रीकृष्ण बल्लभाचार्य काशी संस्कृत सीरीज, २१२, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, १९८३
सिद्धान्तबिन्दु	मधुसूदन सरस्वती, भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, १९६२
सिद्धिविनिश्चय टीका	अनन्तवीर्याचार्य, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, १९५१
स्कन्दपुराण	मुन्शी नवल किशोर (सी०आई०ई०), लखनऊ, १९०८
स्फोट-सिद्धि	मण्डन मिश्र, के० ए० सुब्रह्मण्य अय्यर द्वारा सम्पादित, दकन कालेज पोस्ट ग्रेजुएट एण्ड रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, १९६६

सहायक ग्रन्थ

डॉ० आयंगर, वी० कृष्णस्वामी — पाणिनीय व्याकरण की भूमिका, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, १९८३

डॉ० त्रिपाठी, रामसुरेश — संस्कृत व्याकरण-दर्शन, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९७२

डॉ० द्विवेदी—कपिलदेव — अर्थविज्ञान और व्याकरण-दर्शन, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, १९५१

— भाषा विज्ञान सर्वभाषा शास्त्र, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, १९८०

पाण्डेय, रामाज्ञा — व्याकरणदर्शन-भूमिका, राजकीय संस्कृत पुस्तकालय, सरस्वती भवन, काशी, १९५४

— व्याकरणदर्शन पीठिका, ज्योति प्रकाश प्रेस, वाराणसी, १९६५

डॉ० वर्मा, सत्यकाम — भाषातत्त्व और वाक्यपदीय, भारतीय प्रकाशन, दिल्ली, १९६४

— व्याकरण की दार्शनिक भूमिका, मुन्शीराम मनोहरलाल, दिल्ली, १९७१, प्रथम संस्करण

शास्त्री, रामशरण — पाणिनीय व्याकरणशास्त्रे वैशेषिक तत्त्वमीमांसा, दिल्ली, १९७६

डॉ० शिवंनाथ — अर्थतत्त्व की भूमिका, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सम्वत् २०१८

सेंगर, हरिसिंह — भारतीय अर्थविज्ञान, दि मैकमिलन कम्पनी ऑफ इण्डिया लिमिटेड, नई दिल्ली, १९७८

सहायक अंग्रेजी-ग्रन्थ

Bedakar, V.M. & Palsule, A. B. — Sixty Upanisads of the Veda, Motilal Banarasidass, Delhi,1980

Bloomfield, L. — Language, New York, 1933.

Dr. Chatterjee, Kshitish Chandra — Technical Terms and Technique of Sanskrit Grammar, (Part I), Calcutta University Press, Calcutta, 1964.

Cardona, George — "Pāṇini" A Survey of Research, Muton, 1976.

Dr. Chatterjee, K.N. — Word and Its Meaning, A New Perspective (in the Light of Jagadiśa's Śabda – Śaktiprakasika), Chowkhamb ha Orientalia – A House Of Orientalia – A House of Oriental and Antiquariam Books, Varanasi, 1980.

Devasthali, G.V. — Mīmāṁsa – Vākya – Śāstra of Ancient India, Booksellers Publishing Company, Mehendale Building, Giragaon back Road, Bombay, 1959.

Hiriyanna, M. — The Essentials of Indian Philosophy, George Allen & Unwin Ltd., Ruskin House, London,1956.

Jacob, G.A. Colonel — A Concordance to the Principal Upaniṣads and Bhagavadgītā,

Motilal Banarasidas, Delhi, 1963.

Jespersen, Otto — The Philosophy of Grammar, George Allen & Unwin Ltd., London, 1951

Joshi, S.D. — Sphota–Nirnaya (Ch. 14 of the Vaiyākaraṇabhūṣaṇasāra) of Kauṇḍabhaṭṭa, Poona, 1967.

Keith, A.B. — A History of Sanskrit Literature, Oxford, 1928

The Religion and Philosophy of the Veda and Upaniṣads, Harward Oriental Series hammam, Vol.31, 32, Motilal Banarasidas, Delhi, 1925.

Kunhan Raja, C. — Fundamental Problems in Indian Philosophy, Motilal Banarasidas, Delhi, 1960.

Dr. Kunjunni Raja, K. — Indian Theories of Meaning, The Adyar Library Research Centre, Madras, 1977.

Limaye, V. P. — Critical Study on the Mahābhāṣhya, Vishveshvarsnanda Vedic Research Institute, Hoshiarpur, 1974.

Dr. Marulasiddaih, G. — 'Śabdvṛttis', Govt. Text Book Press, Mysore, Mysore - 1966.

Mookerjee, Sadkari — The Buddhist Philosophy of Universal Flux, University of Calcutta, 1935.

Ogden C.K. & Richards L. A. — The Meaning of Meaning, A Harvest Book, Harcourt, Brace & World, New York, 1923.

Dr. Pandeya, R.C. — The Problem of Meaning in Indian Philosophy, Motilal Banarasidas, Delhi ,1963.

Parkinson, G.H.P. — The Theory of Meaning, Oxford University Press, London, 1970.

Encylopaedia of Indian Philosophies, Motilal Banarasidas, Patna- 4, 1977.

Dr. Radhakrishnan, S. — The Principal Upanisads, George Allen & Unwin Ltd., London, 1978.

Raju, P. T. — The Universal in the Western and the Indian Philosophy (Radhakrishnan —Comparative Studies in Philosophy, Presented in honour of His Sixtieth Birthday), The Ramakrishna Mission Institute of Culture, Calcutta, 1953.

Russell Bertrand — An Inquiry into Meaning and Truth, George Allen and Unwin, London, 1940.

Sastri, Gaurinath — A Study in the Dialectics of Sphota, Motilal Banarsidas, Delhi,1980

The Philosophy of Word and Meaning, Sanskrit College, Calcutta, 1959.

Sastri, Vidyaratna Subrahmaniya — Lectures on Patañjali's Mahābhāṣya (Vol. 1.2.3.4.5), Annamalai University Sanskrit

	Series no. 9, Annamalainagar, 1944.
Dr. Satyavrat Sastri	'Essays on Indology', Bharat Bharati Press, 1, Ansari Road, Daryaganj, Delhi - 6, First edition, 1963.
Dr. Subbarao Veluri	'The Philosophy of a Sentence and its Parts', Munshiram Manoharlal, New Delhi, 1969.
Weit Simone	Lectures on Philosophy, Cambridge University Press, Cambridge, London, 1978.
Williams Monier	Buddhism, Chaukambha Sanskrit Series Office, Varanasi, 1964.
Wittgenstein, L	Philosophical Investigations, Basil Blackwill, London, 1953.

हिन्दी कोश

अभिधानरत्नमाला - हलायुध (Edited by Th. Aufrecht.)
इण्डियन इण्डिया बुकसेलर्स एवं पब्लिशर्स, ७, मलकागंज, दिल्ली-७

अमर कोश - अमरसिंह, दि आड्यार लाइब्रेरी सिरीज, दि आड्यार लाइब्रेरी एण्ड रिसर्च सेन्टर, मद्रास, १९७८

उपनिषदुद्धार कोश - विश्व बन्धु, विश्वेश्वरानन्द इन्डोलाजिकल सिरीज-५३ विश्वेश्वरानन्द संस्थान, होशियारपुर, १९७२

महाभाष्य शब्दकोश - राजकीय प्राच्य ग्रन्थ श्रेणि, अनुक्रमांक 'सी' १, भण्डारकर विद्या मन्दिर, पूना, १९२७

वाङमयार्णव कोश - रामावतार शर्मा, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, सम्वत् २०२४

वाचस्पत्यम् (कोश), चौखंम्भा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, १९६२

अंग्रेजी-कोश

Dictionary of Panini (Ganapatha)	Sumitra Mangesh Katre, Deccan College Post - Graduate Research Institute, Poona, 1971.
	Dictionary of Technical Terms of Indian Philosophy, M a h a m a h o p a h y a y a Bhimachar-ya Jhalakikar, The Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona, 1978.
New Encyclopaedia of Philosophy	J.K. Grooten & G.J. Steenbergen, Philosophical Library , New York, 1972.
Oxford Dictio nary	The Purana Index (Vol.III), V.R. Ramachandra Dikshitar, Madras University, 1955.
Sanskrit - English Dictionary	Monier Williams, The Carendan Press, Oxford, First Edition, 1889.
Sanskrit - English Dictionary	Suryakanta, Orient Longman, Bombay, 1975.
Vedic Bibliography	R.N. Dandekar, Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona,1978.
Vedic Index of Names & Subjects, Vol. I & II	Arthur Anthony Macdonell and Arthur Berrie Dale Veith, Motilal Banarasidas, Delhi, 1958.

Word Index to Patañjali's Vyakarana Mahabhasya — Pt. Shreedhara Shastri Pathak and Siddheshwarashastri Chitrao, Bhandarkar Research Institute, Poona, 1927.

पत्र-पत्रिकाएं

Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute, Vol. XXXIX, Poona, 1959.

Indian Linguistics, Vol.27, Meenakshi Sundaram Felicitation Volume, Linguistic Society of India, Deccan College, Poona, 1968.

A Volume in 'Studies in Indology', Katre, S.M. & Gode, P.K. Oriental Book Agency, Poona -2.

The Adyar Library Bulletin, Vol. XXI, Parts 1-2, The Adyar Library & Research Centre, Adyar, Madras, India, May,1957.

The Journal of the Ganganath Jha Research Institute, Vol.V, 1947, Allahbad.

The Journal of the Ganganath Jha Research Institute, Vol. VII, 1949, Allahabad.

लेखिका-परिचय

डॉ. ए. सुधा सिंह का जन्म-स्थान जिला एटा (उत्तर प्रदेश) है। बी.ए. तक की शिक्षा उत्तर प्रदेश से ही ग्रहण की है। संस्कृत में रुचि तो माँ से घुट्टी में मिली है। पूजनीया माँ संस्कृत में एम.ए. तथा जिला एटा में कन्या विद्यालय से सेवा निवृत्त प्रधानाचार्या है, तथा पूज्य पिता वहाँ के डिग्री कॉलेज में अंग्रेजी विभाग से सेवा निवृत्त रीडर हैं। दिल्ली आकर संस्कृत के प्रति रुचि एवं लगन मामाजी के सान्निध्य में और बढ़ी।

एम.ए., एम. फिल. एवं पीएच. डी. की शिक्षा दिल्ली विश्वविद्यालय से ली। जर्मन भाषा में सर्टिफिकेट भी प्राप्त किया। सन् 1987 से आत्माराम सनातमध र्म कालेज, दिल्ली विश्वविद्यालय के अन्तर्गत प्राध्यापनरत हैं। विश्वविद्यालय के दक्षिण परिसर में एम.ए. के छात्रों का प्राध्यायन तथा शोध-कार्य निर्देशन भी कर रही हैं। उनके लेख संस्कृत की विविध पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं।

विद्यानिलयम्

दिल्ली